बाल-मनोविज्ञान

—————:—————

लेखक

लालजी राम शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०

[सरल मनोविज्ञान, नवीन मनोविज्ञान, बाल-मनोविकास, एलीमेंट्स ऑव एज्यूकेशनल साइकालाजी प्रभृति ग्रंथों के रचयिता]

असिस्टेंट प्रोफेसर टीचर्ज ट्रेनिंग कॉलेज

काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २००३ वि०

द्वितीय सं० १५००]

[मूल्य २)

स्व० पंडित मदनमोहन मालवीय

समर्पण

विद्यादान-यज्ञ के अग्रगण्य पुरोहित

मातृभाषा हिंदी के परम पोषक

हिंदू विश्वविद्यालय के प्राण

देशपूज्य

महामना पं० मदनमोहन मालवीय

के

कर-कमलों में

सादर समर्पित

भूमिका

भारतवर्ष में आधुनिक काल में सर्वतोमुखी जागृति हो रही है। हरएक नागरिक का कर्तव्य है कि इस जागृति में भाग ले। भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति इस देश को स्वतंत्र राष्ट्र बनाना चाहता है। हम दूसरे देशों से अपने आपको नीचा रखने के लिये तैयार नहीं हैं। हम चाहते हैं कि हमें भी दुनियाँ में वही संमान मिले जो दूसरे देश के निवासियों को मिलता है। यह संमान और स्वतंत्रता हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हम अपने आपको उसके योग्य बनाएँ। हमें दुनिया के राष्ट्रों की बराबरी करने के लिये अपने देश की सब प्रकार से उन्नति करना है। सब उन्नति का मूल मातृभाषा की उन्नति है—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल॥

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का उपर्युक्त दोहा हरएक भारतीय को सदा मन में दुहराते रहना चाहिए। हमारे कितने ही देशवासी हैं जो आपस में अपनी भाषा में बातचीत करना अनुचित समझते हैं। जब उन्हें कोई बड़े सुंदर भाव प्रकाशित करने होते हैं तो वे अँगरेजी का प्रयोग करने लगते हैं। एक समय ऐसा था जब कि अँगरेज लोग भी अपनी भाषा में पार्लियामेंट में व्याख्यान नहीं देते थे। तृतीय एडवर्ड के पहले इँगलैंड में राज्य-कार्य में फ्रेंच भाषा का प्रयोग होता था। फ्रेंच को छोड़कर उस समय की यूरप की सब भाषाएँ असभ्य समझी जाती थीं। यदि अँगरेजों का अपनी मातृभाषा के प्रति वही पुराना भाव बना रहता तो क्या शेक्सपियर, मिल्टन जैसे कवि उस देश में अपनी प्रतिभा दिखा सकते? जर्मन भाषा का निर्माण भी गत दो सौ वर्षों में हुआ है। इसके पहले जर्मन भाषा भी असभ्य भाषा समझी जाती थी।

भारतवर्ष की जागृति का प्रथम शुभ लक्षण यह है कि यहाँ का शिक्षित समाज मातृभाषा का आदर करने लगा है। हमने विदेशी भाषा के द्वारा अनेक विषयों का अध्ययन किया है, पर अपने ज्ञान का थोड़ा सा भी अंश हम अपनी भाषा में प्रकाशित नहीं कर पाते। हमारे अँगरेजी पढ़ने का फल यह होना चाहिए था कि हमारे देशवाले हमारे ज्ञान से लाभ उठा सकते। देश के बहुत थोड़े ही लोग अँगरेजी पढ़ सकते हैं पर यदि अपनी भाषा में उस ज्ञान को सुलभ कर दिया जाय तो उसका लाभ सभी लोग उठा सकते हैं।

इस पुस्तक का यही उद्देश्य है। यह पुस्तक प्रथम उन पाठकों के लिये लिखी गई है जिन्हें अँगरेजी भाषा का बिलकुल ज्ञान नहीं अथवा अपर्याप्त ज्ञान है और जो मनोविज्ञान के अँगरेजी भाषा में लिखे गए ग्रंथों को स्वयं पढ़कर नहीं समझ सकते। इस बात को ध्यान में रखते हुए लेखक ने जिन अनेक ग्रंथकारों के विचार उल्लिखित किए हैं उनके ग्रंथों के नाम तथा पृष्ठ-सूची नहीं दी गई है। इस पुस्तक को लेखक ने एक स्वतंत्र पुस्तक बनाने का प्रयत्न किया है।

बाल-मनोविज्ञान एक बड़ा विषय है, अतएव इस पुस्तक का उद्देश्य उस विषय में रुचि मात्र पैदा करने का है। यदि लेखक को अपने इस प्रयास में प्रोत्साहन मिला तो मातृभाषा की अनेक प्रकार से सेवा करने की आकांक्षा पूरी करने में उसे सुविधा मिलेगी।

इस पुस्तक की भाषा साधारणतः बोलचाल की भाषा है। संस्कृत शब्द वहीं प्रयुक्त किए गए हैं जहाँ प्रचलित हिंदी शब्द नहीं मिले। अँगरेजी शब्दों को जहाँ तक बना है अलग किया गया है। यदि लेखक बार बार अपने भाव समझाने के लिये अँगरेजी शब्दों की शरण लेता तो उसका मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता। हिंदी भाषा में सरलता से पश्चिमी भाषाओं में प्रकाशित जटिल भावों का प्रकाशन करना इस पुस्तक के लिखने में मुख्य उद्देश्य है। लेखक को विश्वास है कि हिंदी मिडिल तथा प्राइमरी

स्कूल में पढ़ाने वाला प्रत्येक शिक्षक इस पुस्तक की भाषा और भावों को समझ सकेगा। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि लेखक ने इन्हीं बातों को कालेज के छात्रों को पढ़ाया है। ये विषय अँगरेजी भाषा में लिखे रहने के कारण इतने जटिल हो जाते हैं कि एक साधारण ग्रेजुएट इन्हें प्रोफेसर की सहायता के बिना समझ नहीं पाता। वही बातें मातृभाषा में होने के कारण एक साधारण व्यक्ति भी भली भाँति समझ सकता है। वास्तव में जहाँ अँगरेजी के प्रचार से हमारे देश की अनेक प्रकार से उन्नति हुई, वहाँ यह भी सत्य है कि उस भाषा में जीवन की मौलिक बातें सिखाई जाने के कारण हमारी बुद्धि की भारी क्षति हुई।

लेखक ने कई एक नए शब्दों का प्रयोग किया है। आशा है पाठक गण लेखक के भावों को समझ जायँगे। एक बार भावों को जान लेने के बाद उनका दूसरे शब्दों में प्रकाशित होना सरल हो जाता है। भावी भारतीय मनोवैज्ञानिक नए शब्दों का निर्माण करेंगे। उसके अनुसार इस पुस्तक में प्रयुक्त शब्दों में परिवर्तन होता रहेगा। हिंदी भाषा के लेखकों को इस काल में इस स्वतंत्रता की आवश्यकता है कि वे नए शब्दों को किसी विशेष भाव को प्रगट करने के लिये उपयोग में ला सकें। यदि हिंदी भाषा कोष पर ही आधारित हो जाय तो उसका विकास रुक जायगा। हमें सदा नए शब्दों को ग्रहण करते रहना चाहिए तथा पुराने शब्दों का नए भावों को प्रकाशित करने में उपयोग करना चाहिए। यदि हम अँगरेजी भाषा के वैज्ञानिक को देखें तो ज्ञात होगा कि लेखक किसी भी नए भाव के साथ एक नया शब्द भी गढ़ता है। भाषा के पंडित लेखक से इतनी ही आशा करते हैं कि वह अपने प्रयुक्त शब्द का अर्थ अपने लेख में स्पष्ट कर दे। पुराने शब्द भी वैज्ञानिकों द्वारा नए-नए अर्थों में प्रयुक्त किए जाते हैं।

इस पुस्तक के लिखने के पूर्व लेखक ने कुछ लेख भारतवर्ष की कुछ पत्रिकाओं में इस विषय पर लिखे। उनलेखों के पाठकों उत्सेकु थे

और प्रोत्साहन मिला; अतएव लेखक को यह साहस हुआ कि वह अपने विचारों वा अध्ययन के फल को पुस्तक रूप में जनता के समक्ष रखे। लेखक उन सब पत्रों का, विशेषकर 'बालहित' और 'वीणा' का अनुगृहीत है।

श्रद्धेय श्री पंडित रामनारायण मिश्र जी की कृपा से ही लेखक का संकल्प सफल हुआ। वास्तव में पंडित जी ने ही लेखक को लेखक बनाया। हमारे देश में कितने ही ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं जिनकी प्रतिभा अपना प्रकाश दिखाने का अवसर न पाने के कारण शांत हो जाती है; कितने ऐसे उत्साही नवयुवक हैं जिनका जोश स्वार्थी एवं अभिमानी शक्ति-संपन्न लोग अपनी उपेक्षा द्वारा ठंढा कर देते हैं। पंडित रामनारायण मिश्र जी उन व्यक्तियों में हैं जो अपने आप ऊँचे उठकर सदा दूसरों को भी ऊँचा उठाने और प्रोत्साहित करने में लगे रहते हैं। आप नागरीप्रचारिणी सभा के जन्मदाताओं में से हैं। हिंदी भाषा के आप स्तंभ हैं और अनेक युवकों को आपने हिंदी भाषा का लेखक बनाया। यह ग्रंथ आपके प्रोत्साहन का ही फल है।

अंत में लेखक अपने गुरु रायबहादुर पंडित लज्जाशंकर झा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है जिनकी कृपा से उसे बाल-मनोविज्ञान में रुचि पैदा हुई और जिनके कारण बालकों की समस्याओं का अध्ययन करने का उसे सुअवसर प्राप्त हुआ।

काशी विश्वविद्यालय,
१४-१०-३९ ई०

लालजीराम शुक्ल

विषय सूची

परिच्छेद क्रम पृष्ठ

बाल-मनोविज्ञान

—❀—

पहला परिच्छेद

बाल-मन के जानने की आवश्यकता

बालक को सुयोग्य बनाना—कौन ऐसा पिता होगा जिसे अपने पुत्र को सुयोग्य, चरित्रवान् तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति बनाना अच्छा न लगता हो। कौन ऐसी माता होगी जो अपने बेटे को सदा सुखी देखना न चाहेगी, और कौन ऐसा शिक्षक होगा जो अपने शिष्य की धन, बल, कीर्ति एवं ऐश्वर्य की वृद्धि सुनकर प्रसन्न न होगा। हम सब यही चाहते हैं कि हमारी संतान और हमारे संरक्षकों की हर बात में दिन दूनी और रात चौगुनी वृद्धि हो, उनका भविष्य उज्वल हो और उनकी मान-मर्यादा बढ़े। माता-पिता अपनी सुयोग्य संतान से आदर पाते हैं और संसार में उनके कारण ही स्मृत रहते हैं तथा शिक्षक लोग अपने शिष्यों के कारण अमरत्व को प्राप्त करते हैं। आज हम दशरथ-कौशल्या, नंद-यशोदा, शुद्धोदन-माया तथा शाहजी-जीजीबाई का नाम कदापि न सुनते यदि उनके राम, कृष्ण, बुद्ध और शिवाजी जैसे सुयोग्य पुत्र न होते। इसी

तरह वशिष्ठ, शतानंद, रामानंद, रामदास का नाम उनके शिष्यों के कारण याद रहता है।

जो व्यक्ति किसी समाज या राष्ट्र का सुधार करना चाहता है उसे चाहिए कि उसके बालकों पर ध्यान दे। किसी भी समाज में सुयोग्य बालक अपने आप नहीं हो जाते। समाज के वयस्क लोग ही भले बालकों का निर्माण करते हैं। माता-पिता तथा शिक्षक लोग यदि योग्य हों और कर्तव्य का पालन भली भाँति करें तो यह कदापि संभव नहीं कि उनकी संतान दुराचारी और दुखी बने।

बालक के स्वभाव के विषय में अनभिज्ञता— हम सभी लोग बालकों का पालन-पोषण करते हैं। पर हमारा बालकों के स्वभाव के विषय में कितना परिमित ज्ञान है इसके बारे में हमने कभी विचार ही नहीं किया है। इतना ही नहीं, हम इस ज्ञान के प्राप्त करने की उत्सुकता भी नहीं रखते। हम अपने आपको इस विषय में अज्ञ भी नहीं मानते। अज्ञान का एक लक्षण यह है कि उससे आवृत बुद्धि में मनुष्य को यह भावना भी नहीं होती कि वह अज्ञ है। हम सोचते हैं कि हम सभी एक समय बालक रहे हैं अतएव हमें अपना अनुभव याद ही है, अब और नया क्या जानना है। दूसरे, हमें अपने दूसरे कामों से फुरसत भी नहीं मिलती कि हम बालक की साधारण क्रियाओं पर ध्यान दें। वे इतनी तुच्छ दिखाई देती हैं कि उन पर ध्यान आकर्षित होना संभव नहीं।

पर हमें जानना चाहिए कि हम बालक के मन के विषय में बहुत ही कम ज्ञान रखते हैं। हम अपनी बाल्यावस्था के अनुभवों को विस्मृत कर चुके हैं, और जो कुछ हमें याद भी है वह परिवर्तित रूप में याद है। हम बालकों के अनुभवों

को अब बालक की दृष्टि से नहीं देखते, बल्कि प्रौढ़ दृष्टि से देखते हैं। हम उनके जीवन की छोटी छोटी बातों का महत्व नहीं जानते। इन्हीं छोटी बातों में बालक के बड़प्पन की जड़ है।

जानकारी की इच्छा का दमन—एक नन्हा बच्चा सदा किसी न किसी चीज को पकड़ने की कोशिश किया करता है। हम उसके हाथ से अनेक चीजें छुड़ाया करते हैं। बालक एक नई चीज को जब देखता है तब उसकी ओर दौड़ता है, उसे पकड़ने की कोशिश करता है; जब वह हाथ में आ जाती है तब उसे मसलता है, जमीन पर उसे पटकता है और फिर उठाता है। यदि वह तोड़ने योग्य वस्तु हुई तो उसे तोड़ डालता है। उसे इसमें प्रसन्नता होती है। हम बच्चे को यह सब करने से प्रायः रोका करते हैं, पर यह हमारी कितनी भूल है, इसे बाल-मनोवेत्ता भली भाँति जानते हैं। बालक का बाह्य जगत का ज्ञान उसकी अनेक प्रकार की क्रियाओं से ही बढ़ता है। संवेदना तथा स्पर्शज्ञान की भित्ति के ऊपर और सब प्रकार का मनुष्य का ज्ञान स्थित है। और स्पर्शज्ञान हमारी अनेक प्रकार की शारीरिक क्रियाओं पर निर्भर है। जो बालक जितना चंचल होता है वह संसार के बारे में उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त करता है।

दमन का दुष्परिणाम—जब हम किसी बालक की चंचलता को डाँट-डपटकर रोक देते हैं तब उसके मन में हर एक नई वस्तु के प्रति एक प्रकार का अज्ञात भय हो जाता है। उसकी स्वाभाविक क्रियात्मक वृत्तियों का अवरोध होने लगता है। वह जब बड़ा होता है तब हरएक काम करने में हिचकिचाने लगता है। उसके मन में एक प्रकार की ग्रंथि पैदा हो जाती

है, जिसके कारण वह संसार में आगे पैर रखने में सदा डरता है। वह बहुत से मनसूबे करके भी कुछ भी चरितार्थ नहीं कर पाता। वह बुद्धि-हीन, उत्साह-हीन तथा अकर्मण्य बनकर अपना जीवन व्यतीत करता है।

दूसरे सभ्य देशों से तुलना—किसी व्यक्ति के बड़प्पन की नींव उसकी बाल्यावस्था में ही पड़ती है। संसार के दूसरे सभ्य देशों में बालक के मन का कितना अध्ययन किया जाता है और उसकी जानकारी के अनुसार बालक के लालन पालन में क्या क्या बातें की जाती हैं, इसका भारतवर्ष के निवासियों को थोड़ा भी पता नहीं। वे लोग अनेक प्रकार की रंग-बिरंगी चीजें छोटे छोटे बच्चों के सामने टाँग देते हैं जिससे उनका रंग का ज्ञान बढ़े। अनेक प्रकार के खिलौनों का आविष्कार करते हैं जिससे उनका स्पर्श-ज्ञान बढ़े और उनके स्नायु पुष्ट हों। बालकों की शिक्षा-प्रणाली में भी नए नए आविष्कार हो रहे हैं। इन सबका जानना हमारा परम कर्तव्य है।

शिक्षक और बाल-मन—शिक्षकों को बालक के मन की जानकारी की विशेष आवश्यकता है। शिक्षक का कर्तव्य यही नहीं है कि वह बालकों की किसी विशेष विषय में जानकारी बढ़ा दे। उसका यह कर्तव्य तो है ही, पर उससे भी अधिक उसका कर्तव्य यह है कि वह अपने संरक्षण में रहने वाले बालकों का चरित्र-गठन करे। जो बालक सब प्रकार से बली होता है वही सुखी रहता है। शिक्षकों का कर्तव्य बालकों का शारीरिक बल और बुद्धि-बल बढ़ाना है। पर उन्हें विशेष ध्यान चरित्र-बल पर देना चाहिए। जिस व्यक्ति में चरित्र-बल नहीं वह दूसरी सब प्रकार की विभूतियों का सदुपयोग नहीं कर पाता, अतएव

उनके रहते भी दुःखी रहता है। चरित्र-हीन व्यक्ति अपनी सब विभूतियों को अंत में खो देता है।

चरित्र-गठन—बालकों का चरित्र-बल शिक्षा द्वारा ही बढ़ाया जा सकता है। पर मनोविज्ञान की जानकारी के बिना सुयोग्य शिक्षा संभव नहीं। वास्तव में शिक्षकों में मनोविज्ञान की अज्ञता के कारण शिक्षालयों से ऐसे व्यक्ति निकलते हैं जो अपने शिक्षकों को अनादर की दृष्टि से देखा करते हैं, उनमें लोकोपकार का न तो भाव ही रहता है और न योग्यता। जिस व्यक्ति की बालपन में भली आदतें नहीं बन जातीं वह सदा अपने जीवन को भाररूप बना कर ढोता है। जहाँ भली आदतें नहीं बनतीं वहाँ बुरी आदतें अपने आप बन जाती हैं। वह मनुष्य अपनी बनाई जंजीरों में ऐसा जकड़ जाता है कि उनसे उसका मुक्त होना असंभव हो जाता है। शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों की अनेक प्रकार की चेष्टाओं, क्रियाओं और मानसिक शक्तियों का अध्ययन करें। बिना बालक के मन को जाने, उसमें होने वाली अनेक गुप्त क्रियाओं को बिना समझे, बालकों का चरित्र-गठन संभव नहीं। जो शिक्षक इस विषय में जितनी जानकारी बढ़ाता है, वह उतना ही अपने आपको शिक्षा के कार्य के लिये योग्य बनाता है।

बुद्धि-विकास—जिस प्रकार चरित्र-गठन के लिये बाल-मन के जानने की आवश्यकता है, उसी प्रकार साधारण बौद्धिक शिक्षा देने के लिये भी शिक्षकों को बाल-मन का भली भाँति अध्ययन करना आवश्यक है। फ्रांस के सुप्रसिद्ध विद्वान् रूसो अपनी इमील नामक पुस्तक में लिखते हैं कि बालक का मन ही शिक्षक की पाठ्य पुस्तक है जिसे उसको पहले पृष्ठ से लेकर अंत तक भली भाँति अध्ययन करना चाहिए। जो शिक्षक बालकों की साधारण

मानसिक क्रियाओं के बारे में ज्ञान नहीं रखता वह बालकों के मन में कोई ज्ञान कदापि इस प्रकार नहीं बैठा सकता जिससे वह चिरस्थायी रहे और उसके जीवन में समय समय पर काम आए। वर्तमान समय में बालक एक कक्षा में बैठकर पढ़ते हैं। यदि पाठ रुचिकर नहीं होता तो बालकों का ध्यान उसपर आकर्षित न होकर इधर उधर दौड़ता है। यदि केवल कुछ लड़कों का ध्यान इधर उधर दौड़ा तो सब लड़कों का ध्यान भंग हो जाता है। इसलिये शिक्षकों को यह जानना अति आवश्यक है कि वे अपना पाठ कैसे रुचिकर बनाएँ। इसके लिये उन्हें बाल-मन का अध्ययन करना चाहिए। उन्हें बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को जानना चाहिए। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के आधार पर ही पहले पहल उनका ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

इसी तरह शिक्षकों को बालकों के इंद्रिय-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान, कल्पना, स्मृति तथा विचार करने की प्रक्रियाओं का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए। शिक्षकों को यह जानना आवश्यक है कि बालक की अनेक मानसिक शक्तियों का विकास किस प्रकार होता है और वे शक्तियाँ किन किन बातों पर निर्भर हैं, वातावरण और पैत्रिक संपत्ति का मनुष्य के विकास में क्या स्थान है। उन्हें यह भी जानना है कि प्रखर बुद्धि वाले तथा साधारण बुद्धि और मंद बुद्धि वाले बालकों को कौन कौन सी भिन्न भिन्न रीतियों से पढ़ाया जाय कि वे शिक्षा से अधिक से अधिक लाभ उठा सकें।

दूसरा परिच्छेद

बाल-मन का अध्ययन

शिक्षकों का यत्न—बालमन का अध्ययन कई प्रकार के लोगों ने किया है। बालमन का वर्तमान ज्ञान उन्हीं लोगों के अध्ययन के आधार पर है। पहले पहल इस ओर शिक्षक लोगों की दृष्टि गई। शिक्षकों का कई प्रकार के बालकों से संपर्क होता है। उनमें कितने ही प्रखर बुद्धि वाले होते हैं और कितने मंद बुद्धि वाले। असाधारण बालक की ओर शिक्षक का ध्यान अवश्य आकर्षित होता है क्योंकि हर एक असाधारण बालक शिक्षक के लिये समस्या बन जाता है। साधारण बुद्धि वाले बालकों को शिक्षक जैसे तैसे पढ़ा लेता है पर मंद बुद्धि वाले बालकों को वह कैसे पढ़ाए। फिर कोई कोई बालक बड़े उत्पाती होते हैं। उनको काबू में रखना भी शिक्षक के लिये एक भारी समस्या रहती है। जब और सब बालक अपने पाठ सीखने में लगे रहते हैं तब उत्पाती बालक दूसरों के साथ कुछ शरारत करने की योजना बनाते हैं। उन्हें दूसरे बालकों और शिक्षक को चिढ़ाने में मजा आता है। कई बालक झूठ बोलने, चोरी करने, गाली देने और मार खाने में भी विचित्र प्रकार का आनंद अनुभव करते हैं। ऐसे

बालक हर एक शिक्षक को मिला ही करते हैं। साधारण शिक्षक उनकी बुराइयों के कारण ढूंढ़ने में असमर्थ रहता है। पर कुछ प्रखर बुद्धि वाले शिक्षकों ने इन बातों की खोज करना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। किसी शिक्षक की दृष्टि मंद बुद्धि वाले बालक की ओर आकर्षित हुई तो किसी की उत्पाती बालक की ओर। उन लोगों ने अपने परिश्रम से ऐसी खोजें की हैं जो भविष्य में सब शिक्षकों के लिये उपयोगी होंगी। बेलजियम में सिगमंड और इटार्ड तथा इटली की सुप्रसिद्ध मेडम मांटसोरी उन व्यक्तियों में हैं जिन्होंने अपनी खोजों के द्वारा अल्प बुद्धि वालों तथा शिशुओं के लिये नई शिक्षा-प्रणाली की रचना की है। इसी तरह डाक्टर होमरलेन और सिरियल बर्ट ने भी उत्पाती बालकों के बारे में बहुमूल्य बातें बताई हैं।

डाक्टरों का यत्न—शिक्षकों के अतिरिक्त डाक्टर लोगों ने भी बालमन के ज्ञान के लिये बहुत प्रयत्न किया है। इनमें डाक्टर बिने, फ्राइड, होमरलेन के नाम प्रसिद्ध हैं। डाक्टरों को बालकों की अनेक प्रकार की बीमारियों की जानकारी रहती है। उन्हें उन बीमारियों का कारण खोजना पड़ता है। डाक्टरों को प्रायः हम लोग शारीरिक रोग के निवारण के लिये ही बुलाया करते हैं। वे लोग इसके लिये कुछ औषधि हमें देते हैं अथवा यदि कोई फोड़ा फुंसी हुई तो चीरफाड़ करते हैं, पर कई एक शारीरिक रोग ऐसे भी होते हैं जिनकी जड़ मन में रहती है, जो कितनी ही दवा करने से भी अच्छे नहीं होते। जब कुछ डाक्टरों का ध्यान ऐसे रोगों पर गया तब वे मनुष्य के मन का अध्ययन करने लगे। उनके यत्न से बालक के मन के बारे में हमारी जानकारी बहुत कुछ बढ़ गई।

डाक्टर बिने ने मंद बुद्धि वाले बालकों का अध्ययन किया और बुद्धिमाप का तरीका निकाला है। आधुनिक काल में बुद्धि-माप एक वैज्ञानिक वस्तु समझी जाती है। बालकों की बुद्धि माप कर हम उनको अपने भविष्य का कार्य निश्चित करने में सहायता दे सकते हैं। यूरोप में मंद बुद्धि और अल्प बुद्धि वाले बालकों के लिये विशेष प्रकार के शिक्षालयों का प्रबंध है और शिक्षा का क्रम भी विशेष रहता है। बुद्धिमाप का विचार डाक्टरों से आया। तो भी आज इसे मनोवैज्ञानिकों ने अपना लिया है।

डाक्टर फ्राइड, डाक्टर युंग और दूसरे लोगों ने उन्माद रोग का अध्ययन किया। कितने मानसिक रोगों की जड़ बाल्य-काल में रहती है। अतएव इन लोगों को बच्चों के जीवन का भी भली भाँति अध्ययन करना पड़ा। डाक्टर फ्राइड एक विज्ञान के निर्माता माने जाते हैं जो चित्त-विश्लेषण विज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है। चित्त-विश्लेषण द्वारा कितने ही वयस्क व्यक्तियों का बाल्यकाल जाना गया है। इन खोजों से बालक के मन के बारे में हमारी जानकारी विशेष बढ़ गई है।

मनोविज्ञान-वेत्ताओं का यत्न—शिक्षकों और डाक्टरों ने जो काम किया उससे बाल-मनोविज्ञान बनाने में बड़ी सुविधा पड़ी। उनकी खोजों को बाल-मनोविज्ञान में रुचि रखने वाले व्यक्तियों ने एकत्रित किया और स्वयं भी कई नई खोजें कीं। इस प्रकार एक नए विज्ञान की रचना हो गई जो संसार के लिये अति उपयोगी है। वास्तव में शिक्षक और डाक्टरों में ही बड़े बड़े मनोवैज्ञानिक हुए हैं। पर इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे लोग हैं जिन्होंने बालक के मन का अध्ययन किसी दूसरे कार्य में सुविधा पाने के लिये नहीं किया वरन् उस विषय में ही रुचि

रहने के कारण किया है। इस कार्य में यूरप की महिलाओं का कार्य बड़ा प्रशंसनीय है। कितनी ही महिलाओं ने बालक की खेल की प्रवृत्ति, नई बातें जानने की उत्सुकता, अनुकरण की प्रवृत्ति तथा भाषा सीखना आदि बातों का बड़ी लगन तथा परिश्रम के साथ, बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है।

शिक्षित माता-पिताओं का यत्न—बाल-मनोविज्ञान के रचने में उन लोगों का भी हाथ है जिन्होंने अपनी संतान केविषय में छोटी-छोटी बातों की जानकारी रक्खी और उनको लिखकर डायरियाँ बनाईं। वास्तव में शिक्षक, डाक्टर और वैज्ञानिक बालक की भावनाओं और अनेक चेष्टाओं के विषय में उतना नहीं जान सकता है जितना कि उसके माता-पिता जान सकते हैं। शिक्षक को अवश्य बालक के मन के विषय में अधिक जानने का अवसर मिलता है, पर हर एक बालक के घर की अवस्था एक शिक्षक के लिये जानना संभव नहीं। तथा बालक शिक्षक के सामने उतना स्वतंत्र नहीं रह सकता जितना वह अपने माता-पिता के सामने रहता है। अतएव उसकी अनेक स्वाभाविक क्रियाओं का अवरोध होता है। शिक्षक के लिये बालक का पूरा स्वभाव जानना उतना सहज नहीं है जितना माता-पिता के लिये है। फिर किसी अपरिचित व्यक्ति के लिये तो बालक का स्वभाव जानना और भी कठिन है। अतएव डाक्टर और मनोवैज्ञानिक बालक की चेष्टाओं के बाह्य रूप को ही देख पाते हैं। उनके लिये उसकी अंतर-भावना को समझना बहुत ही कठिन होता है। उनके सामने आते ही बालक की सहज क्रियायें रुक जाती हैं। इसलिये वे बालक के असली स्वभाव को नहीं जान पाते।

माता-पिता की बालमन जानने की योग्यता—यदि

माता-पिता ही बालक के मन का अध्ययन करें तो अवश्य बालक के मन के बारे में सच्चा ज्ञान पैदा हो। पर माता-पिताओं से भी अपनी संतान की चेष्टाओं के समझने में भूल हो सकती है। वे अपनी संतान के कामों को निष्पक्ष भाव से नहीं देख पाते। अपने बालक की बुराइयों की ओर माता-पिताओं की दृष्टि नहीं रहती। अतएव साधारण माता पिता इस योग्य नहीं जो मनोविज्ञान के लिये उपयुक्त बातें बालमन के विषय में बताएँ। दूसरे, उनसे बालक की क्रियाएँ देखने में तथा उनको याद रखने में कई ऐसी भूलें हो सकती हैं जिनके कारण एक विश्वसनीय विज्ञान का निर्माण नहीं हो सकता।

पर यदि माता पिता को इस प्रकार की शिक्षा मिले जिससे कि वे निष्पक्ष दृष्टि से अपनी संतान की क्रियाओं का विवेचन कर सकें तो अवश्य उनकी बातें बाल-मनोविज्ञान के रचने में बहुत सहायक होंगी। जब स्वयं माता-पिता ही मनोवैज्ञानिक होते हैं तो अवश्य उनका निरीक्षण बाल-मनोविज्ञान के रचने में लाभकारी होता है। डाक्टर स्टर्न और उनकी पत्नी ने अपने दो बच्चों की अनेक चेष्टाओं से उनकी शारीरिक और मानसिक वृद्धि के विषय में बारीकी के साथ ध्यान दिया, उनको एक डायरी में लिखा। इस प्रकार दोनों बालकों की विस्तृत जीवनी तैयार हुई। इसके आधार पर डाक्टर स्टर्न ने बालकों के मन के बारे में अनेक उपयोगी खोजें की हैं।

हर एक माता-पिता अपने बालक की अनेक चेष्टाओं का अध्ययन कर सकता है और उसके आधार पर समाजोपयोगी अनेक अच्छी अच्छी बातें बालक की मानसिक क्रियाओं के बारे में बता सकता है।

चित्तविश्लेषकों का यत्न—आधुनिक काल में चित्त-विश्लेषण-शास्त्र बहुत उन्नति कर रहा है। इसके द्वारा बहुत सी मानसिक बीमारियाँ अच्छी की जा रही हैं। असाधारण स्मृति, व्यक्ति-विच्छेद, हिस्टिरिया इत्यादि रोग इससे अच्छे किए जाते हैं। इन बहुत से रोगों की जड़ शैशवावस्था के संस्कारों में है। अतएव विश्लेषण में भी बाल-मनोविज्ञान की विशेष आवश्यकता है और इस ज्ञान के बढ़ाने में चित्तविश्लेषण-शास्त्र ने पर्याप्त कार्य किया है। चित्तविश्लेषण के द्वारा किसी भी व्यक्ति के बाल्यकाल के अनुभव को जो कि विस्मृत हो चुका हो, स्मृति में लाया जा सकता है। चित्तविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार हमारे किसी भी अनुभव के संस्कार नष्ट नहीं होते। वे गुप्तावस्था में रहते हैं और समय आने पर अपना काम करते हैं। इन संस्कारों को पुनः स्मृति में लाने से बहुत सी बीमारियाँ आराम हो जाती हैं।

चित्तविश्लेषण-वैज्ञानिकों के अनुसार बाल्य-काल ऐसा समय है जब कि बहुत सी मानसिक ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं और वे हमारे अव्यक्त मन में स्थान पा लेती हैं। चित्त-विश्लेषण की खोज ने हमारे बालमन के जानने में बड़ी सहायता दी है। उनके प्रयत्न के विषय में हम आगे किसी परिच्छेद में विस्तारपूर्वक कहेंगे।

तीसरा परिच्छेद

बालमन के अध्ययन के उपकरण

मानेवैज्ञानिक लोग मन की क्रियाओं के अध्ययन के लिये प्राय: निम्नलिखित उपाय काम में लाते हैं—

(१) अंतर्दर्शन
(२) निरीक्षण
(३) प्रयोग
(४) प्रश्नावली
(५) डायरी
(६) तुलना
(७) चित्त-विश्लेषण

अंतर्दर्शन—अंतर्दर्शन का अर्थ अपने अंदर देखना होता है। यह उस क्रिया का नाम है जिससे एक व्यक्ति अपने मन के भीतर होने वाले विचारों, संवेगों और अनेक क्रियाओं के ऊपर ध्यान देता है। इसलिये यह उपकरण विशेष कर प्रौढ़ लोगों के मन के अध्ययन में अधिक सहायता देता है। फिर भी बाल-मन के अध्ययन में भी यह उपकरण गौण रूप से सहायता देता है। वास्तव में वह क्रिया प्रौढ़ व्यक्ति को बाल-मन की क्रियाओं और विचारों को व्यक्त करने में सहायता देती है।

जिस व्यक्ति को अंतर्दर्शन की आदत है उसे जब क्रोध आता है तब वह क्रोध के संवेग का अनुभव तो करता ही है, पर उस संवेग के ऊपर विचार भी करता है। क्रोध आना तो हर एक व्यक्ति का अनुभव है, पर क्रोधित अवस्था में क्रोध पर विचार करना किसी विरले ही मनुष्य का काम है। ऐसा करने में अपने आपके प्रति एक प्रकार का साक्षीभाव आना चाहिए। इस साक्षीभाव के आए बिना अपनी मानसिक क्रियाओं के ऊपर दृष्टि डालना संभव नहीं। भारतवर्ष में तो अंतर्निरीक्षण की क्रिया के होने की संभावना में कोई संशय नहीं उठता, क्योंकि यहाँ की संस्कृति में योगाभ्यास के प्रति श्रद्धा भरी है। योग में चित्तवृत्ति-निरोध का मार्ग दर्शाया गया है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:"। अतएव चित्तवृत्ति क्या है और उसका निरीक्षण किस प्रकार हो सकता है—इसके विषय में हमें संदेह नहीं। पर पश्चिम में ऐसे प्रश्न उठा करते हैं। अतएव ऐसे लोग मनोविज्ञान की इस रीति को योग्य नहीं समझते।

पर हमें तो यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बालमन के अध्ययन के लिये मनोविज्ञान के इस विशेष उपकरण की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि दूसरे उपकरणों की। पर हाँ, इसके बिना भी काम नहीं चल सकता। जिस व्यक्ति को साधारण मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं उसके लिये बाल-मनोविज्ञान का समझना भी कठिन होता है। वास्तव में हम अपने मन की क्रियाएँ समझकर ही दूसरों के मन की क्रियाएँ जानते हैं। यह बात अवश्य है कि हम बालक के मन से बहुत दूर हैं; अतएव उसके मन में होने वाली अनेक क्रियाओं के समझने में हमसे भूल हो सकती है। पर यह कदापि नहीं कहा जा

सकता कि हम अपना मन समझे बिना दूसरे लोगों का मन समझ सकते हैं अथवा बालक के मन के विशेषज्ञ हो सकते हैं। अतएव कुछ न कुछ अंतर्दर्शन की आवश्यकता बालमन के अध्यन में अवश्य है। यह उपकरण किसी भी प्रकार हेय अथवा अवांछनीय नहीं समझा जा सकता। वरन् यह कहा जा सकता है कि यह उपकरण बाल-मन का अध्ययन करने में अपना विशेष स्थान रखता है।

निरीक्षण—यह बाल-मनोविज्ञान के लिये सबसे मुख्य उपकरण है। इस उपकरण द्वारा मनोवैज्ञानिक बालक के अनेक व्यवहार जानने की चेष्टा करते हैं, और अपने निरीक्षण में आई हुई बातों को लिखते जाते हैं। बालक स्वाभाविक रूप से अपनी चित्तवृत्ति और भावनाओं के अनुसार काम करता रहता है। उसका उठना, बैठना, बोलना अथवा हाथ पैर हिलाना आदि जितने व्यापार हैं, सब वह स्वभावतः करता रहता है। इन व्यापारों में उसकी आयु-वृद्धि के साथ साथ परिवर्तन होता रहता है। निरीक्षक को सिर्फ इतना ही करना होता है कि वह बालक के कार्य में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। उसका काम केवल बालक के कार्यों का निरीक्षण करना और उन्हें लिख लेना है। निरीक्षक को इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि बालक और हम (प्रौढ़) भिन्न भिन्न अवस्था में रहने वाले हैं और बालक हमारे लिये एक बाहरी अनजान व्यक्ति है। इसलिये हमें यह भली भाँति जानना चाहिए कि बालक किस प्रकार अपने भावों और विचारों को व्यक्त करता है। हम लोग प्रायः यह समझते हैं कि बालक का मस्तिष्क बड़ा साधारण है और उसका समझना भी सरल है; पर बालक के स्वभाव की सरलता और भोलेपन के ही कारण उसे समझना

कठिन हो जाता है। बालक के भावों और विचारों को समझना बड़ा कठिन है। साथ ही साथ बालक का अनुभव नहीं के बराबर होता है। ऐसी हालत में बालमन के अध्ययन में निरीक्षण के उपकरण को काम में लाते समय निरीक्षक को बहुत सावधान रहना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों ने निरीक्षण करने के लिये कुछ बातें बताई हैं जिनपर ध्यान रखना चाहिए। उनमें से कुछ बातें हम नीचे देते हैं—

(१) निरीक्षक को चाहिए कि बच्चों को जैसा-जैसा व्यापार करते देखे वैसा ही लिखे और उन क्रियाओं का जो अर्थ वह लगाए उसको भी अलग-अलग लिख ले। इसमें असावधानी नहीं करना चाहिए।

(२) अपने निरीक्षण का अर्थ लगाने में निरीक्षक को बालक की सरलता तथा स्वाभाविक स्वतंत्रता पर पूरा ध्यान रखना चाहिए और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उसे इस दुनिया का कुछ भी अनुभव नहीं है। ऐसा ध्यान रखते हुए उसे अपने निरीक्षण के नतीजे पर पहुँचना चाहिए।

(३) निरीक्षकको किसी व्यापक नतीजे पर पहुँचने के लिये उसकी वास्तविकता को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए।

हमने ऊपर तीन बातें ऐसी बतलाई हैं जिनका ध्यान निरीक्षकों को रखना आवश्य है। साथ ही साथ इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि निरीक्षण करते समय बालक के स्वतंत्र तथा स्वाभाविक क्रिया-कलाप में किसी भी प्रकार की अड़चन न पड़े क्योंकि किसी प्रकार की भी अड़चन आ जाने से बालक का व्यापार स्वतंत्र नहीं रह जाता। यह अड़चन खास तौर से बच्चों को उस समय पड़ती है जब उनके अंदर लज्जा अथवा झेंप की भावना आ जाती है। जब कोई

अपरिचित व्यक्ति बालक के पास आता है तो वह सहम जाता है, जिससे उसके स्वतंत्र और स्वाभाविक कार्य में रुकावट और बनावटीपन आ जाता है। इसीलिये मनोवैज्ञानिकों ने इस उपकरण का प्रयोग माता, पिता अथवा घनिष्ठ संबंधियों द्वारा ही करने का आदेश दिया है। इनमें भी माता सबसे उपयुक्त है क्योंकि माता के संपर्क में बालक जिस स्वतंत्रता से अपने स्वाभाविक आचरण का प्रदर्शन करता है उतनी स्वतंत्रता और किसी के संपर्क में नहीं दिखाता। हाँ, यह अवश्य है कि इस निरीक्षण के लिये माता की इस विषय की जानकारी बहुत जरूरी है। बिना विषय के ज्ञान के माता ठीक-ठीक निरीक्षण नहीं कर सकती। इसलिये इस विषय के लिये माता को खास तरह की शिक्षा की जरूरत है; क्योंकि इसके बिना माता-पिता के अंदर स्वभावतः अपने बच्चों के प्रति पक्षपात की भावना आ जाती है और वे अपने बच्चों के विषय में कोई ऐसी बात नहीं लिखना चाहते जो निरीक्षण के अंदर तो आती है पर अपने बच्चों के लिये वैसा लिखना प्रतिकूल या अशुभ जान पड़ता है। ऐसी दशा में सच्चा निरीक्षण नहीं हो सकता। माता-पिता के बाद घनिष्ठ संबंधी तथा अध्यापकगण अच्छे निरीक्षक कहे जा सकते हैं। संबंधियों और अध्यापकों से बच्चे हिलेमिले रहते हैं और इसलिये उनके स्वतंत्र व्यापार में अंतर नहीं पड़ता। अध्यापक बालकों के साथ अपना शिक्षा का काम करता रहे और निरीक्षण का कार्य भी करता रहे। बालक को यह बात ज्ञात न हो। इसी प्रकार डाक्टर, वैद्य तथा होशियार दाइयाँ भी अच्छी निरीक्षक हो सकती हैं।

निरीक्षण की सुविधा के लिये मनोविज्ञानिकों ने कई रीतियाँ बतलाई हैं—जैसे *निरीक्षण-शाला का प्रयोग*। इसके लिये मकान

का एक खास कमरा चुन लेते हैं जिसमें बच्चे की सुविधा की सभी चीजें मौजूद रहती है। बच्चा उसमें स्वतंत्र रूप से छोड़ दिया जाता है और उसकी क्रियाएँ निरीक्षक लिखता जाता है। बच्चों को स्वतंत्र रूप से काम करने की हालत में तरह-तरह के फोटो भी लिए जा सकते हैं।

निरीक्षण का काम जैसे एक बालक के साथ किया जा सकता है वैसे ही एक उम्र के कई बालकों के साथ भी हो सकता है। एक उम्र के कई लड़के एक स्थान पर खेलने के लिये छोड़ दिए जाते हैं। निरीक्षक उनके क्रिया-कलापों को लिखते जाते हैं। भिन्न-भिन्न उम्र वाले बालकों का भी निरीक्षण एक साथ करके उनके कामों में जो अंतर पड़ता है उसे निरीक्षक सावधान होकर लिखता है। इस प्रकार के निरीक्षण से आयु-वृद्धि के साथ-साथ बच्चों में जो विकास होता है उसका पूरा पता चलता है।

बच्चों के जीवन पर रहन सहन की दशा, आर्थिक दशा, खेल-कूद के तौर-तरीके तथा साथियों आदि का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि कोई बच्चा गरीब खान्दान में पैदा हुआ और उसके खेलने कूदने की सामग्री भी मामूली है तो इस बच्चे के जीवन में और इसके विपरीत-दशा वाले बच्चे के जीवन में बड़ा अंतर आ जाता है। निरीक्षक का ध्यान इन बातों की ओर अवश्य जाना चाहिए। एक दशा में निरीक्षण करने के बाद उसी बालक को दूसरी अच्छी दशा में रखकर निरीक्षण करना चाहिए। जैसे किसी गरीब बालक का निरीक्षण करना है; उसके पास खेलने की पूरी सामग्री भी नहीं है और न तो खाने पीने का समुचित प्रबंध है। ऐसे बालक का एक दशा में निरीक्षण करने के बाद उसे दूसरी परिस्थिति में रखकर निरीक्षण करना चाहिए, उसके पास खेलने के लिये पूरी सामग्री हो और खाने पीने के लिये

अच्छा प्रबंध हो और घर की हालत अच्छी हो। अब निरीक्षक को मालूम हो जायगा कि परिस्थिति का कितना भारी प्रभाव बच्चों के ऊपर पड़ता है। परिस्थिति के अनुसार एक ही बच्चे के कार्यों, भावों और विचारों में बड़ा अंतर आ जाता है।

प्रयोग—प्रयोग के उपकरण ने भी बालमन के अध्ययन में बड़ी सहायता पहुँचाई है। प्रयोग भी एक प्रकार का निरीक्षण ही है, पर निरीक्षण और प्रयोग में एक बड़ा अंतर है। निरीक्षण के अंतर्गत बच्चों को पूरी स्वतंत्रता रहती है; पर जिन दशाओं में निरीक्षण किया जाता है उनपर हमारा अधिकार नहीं होता। प्रयोग में बच्चों को पूरी स्वतंत्रता तो नहीं रहती पर जिन-जिन दशाओं में प्रयोग की क्रिया की जाती है उनपर हमारा अधिकार होता है। इस उपकरण द्वारा बालकों की चित्त को एकाग्र रखने की शक्ति, स्मरण शक्ति, बुद्धि-विकास और थकावट इत्यादि के विषय में अनेक मूल्यवान् बातें ज्ञात हुई हैं। परंतु इस उपकरण का उपयोग परिमित है। प्रयोग के अंदर इतनी कृत्रिमता होती है जिससे बालक की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। जब प्रयोग की क्रिया की जाती है तब बच्चा अपने को अस्वाभाविक अवस्था में पाता है जिससे उसके कार्यों में भी बनावटीपन आ जाता है। साथ ही साथ प्रयोग-कर्त्ता और बालक में उतना संबंध नहीं रहता जितना माता-पिता और बच्चे में होता है। इसलिये बच्चे के अंदर लज्जा, झेंप इत्यादि भावना आ जाती है जिससे उसकी स्वतंत्रता तथा उसके स्वाभाविक व्यापार में विघ्न पड़ता है और बालमन का अध्ययन ठीक तरह से नहीं होता। इसलिये इस उपकरण को काम में लाते समय निरीक्षक के लिये उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

यह सब होते हुए भी मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग की क्रिया

द्वारा बालमन का अच्छा अध्ययन किया है। बालकों के मन का अध्ययन डाक्टर मेरिया मान्टीसोरी ने अच्छा किया है। मान्टीसोरी ने बताया है कि खेल द्वारा बच्चों की अनेक मानसिक शक्तियों का विकास होता है। बच्चों के खेल किस प्रकार के होने चाहिएँ, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन हम आगे करेंगे। प्रयोग की क्रिया द्वारा मनोवैज्ञानिकों को दो बातें मालूम होती हैं; एक तो यह कि बच्चों के अंदर कौन-कौन-सी स्वाभाविक शक्तियाँ किस मात्रा में मौजूद हैं और दूसरी यह कि इन स्वाभाविक शक्तियों का उपयोग कैसे किया जा सकता है।

प्रश्नावली—मनोवैज्ञानिक लोग बालमन का अध्ययन करने के लिये कुछ चुने हुए प्रश्न भिन्न-भिन्न लोगों के पास भेजे देते हैं। ये प्रश्न बालकों के विषय में पूछे जाते हैं और उन प्रश्नों के उत्तरों द्वारा बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाता है। प्रश्न दूर-दूर स्थानों में भेज दिए जाते हैं जिनका उत्तर लोग अपने-अपने निरीक्षण तथा अनुभव के आधार पर भेजते हैं। प्रश्न बच्चों के बाल्यकाल से संबंध रखने वाले होते हैं; जैसे, आपके बच्चे किस प्रकार के खेल पसंद करते हैं, किन-किन वस्तुओं से विशेष रुचि रखते हैं, किन-किन चीजों से डरते हैं—इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं। ऐसे-ऐसे प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले बच्चों के अभिभावकों से माँगे जाते हैं। इस उपकरण का विशेष रूप से प्रयोग स्कूलों में किया जाता है। स्कूल के अध्यापकों के पास प्रश्न भेज दिए जाते हैं और अध्यापकगण बच्चों का निरीक्षण करके उत्तर भेजते हैं। इस प्रकार हम बच्चों की कल्पना, उनकी पढ़ने की रुचि, उनके भाव और विचार तथा खेल आदि के विषय में जानकारी

प्राप्त करते हैं। इस उपकरण में कुछ अंतर्दर्शन और विचार की आवश्यकता होती है अर्थात् उत्तर देने वाले को अपने बचपन के अनुभवों को फिर से अपनी स्मृति में लाना होता है और उसी के आधार पर वे प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

यह उपकरण बालमन के अध्ययन में कुछ काम तो आता है पर उसकी उपयोगिता सीमित है। प्रथम तो नवयुवक प्रश्नों का व्यापक उत्तर देने में कुशल नहीं होते। इसलिये उनके उत्तर अधिक विश्वसनीय नहीं हो सकते। साथ ही साथ इस विषय में रुचि होनी चाहिए। बिना रुचि के यह काम ठीक नहीं हो सकता। जिनको इस विषय में दिलचस्पी नहीं होती वे प्रश्नों का उत्तर नहीं भेजते और बहुत से लोग बिना विचारे जो कुछ मन में आया, लिखकर भेज देते हैं। कभी कभी लोग अपने उत्तर को रोचक और कलापूर्ण बनाने की धुन में सत्यता से दूर चले जाते हैं और उनके उत्तर काल्पनिक रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे लोगों के उत्तर में स्वाभाविकता और वास्तविकता नहीं रहती। प्रायः माता-पिता अपने बच्चों के बारे में उनके दोषों को नहीं लिखना चाहते। यदि वे ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते हैं तो उन्हें अच्छा रूप देकर भेजते हैं। बहुत से माता-पिता तो स्वयं लिख नहीं सकते। ऐसे माता-पिता ऐसे कामों के लिये अयोग्य और असमर्थ होते हैं। यद्यपि इस उपकरण में बहुत बातों का अभाव है तथापि मनोवैज्ञानिकों ने इस उपकरण द्वारा बालमन का अध्ययन किया है और यह उपकरण किसी भी प्रकार से हेय नहीं समझा जा सकता।

नोट-बुक (डायरी)—मनोवैज्ञानिकों ने बालमन के अध्ययन का एक दूसरा तरीका डायरी द्वारा बतलाया है। माता-पिता, अध्यापक अथवा किसी भी व्यक्ति को जो इस विषय में

दिलचस्पी रखता हो, अपने पास एक डायरी रखनी चाहिए और बच्चों के हरएक व्यापार को उसमें लिखना चाहिए। जैसा-जैसा बच्चे को काम करते देखें वैसा ही डायरी में लिख लेना चाहिए। डायरी में एक ओर हाशिया छोड़ना चाहिए जिसमें बच्चे के व्यापारों का जो कुछ मतलब लगाया जाय, लिख दिया जाय। डायरी का रखना अत्यावश्यक इसलिये है कि बच्चा जो कुछ करता है वह उसी समय उसमें लिख लिया जाय; देर में अथवा बाद में लिखने से भूल हो जाने का डर रहता है और बहुत सी बातें छूट भी जाती हैं। इस क्रिया को अधिक उपयोगी बनाने के लिये संकेत लिपि सीखना उचित है, क्योंकि इस कला को सीखने से निरीक्षण की बातें जल्दी और आसानी के साथ लिखी जा सकती हैं। यह काम आसान नहीं है। क्षण-क्षण पर बच्चों के कामों का निरीक्षण करना और फिर उन्हें डायरी में लिखना रूखा और नीरस मालूम पड़ता है। यह कठिन काम वही व्यक्ति कर सकता है जो इस उपकरण द्वारा बालमन का अध्ययन करने में रुचि रखता हो।

बहुत थोड़े लोग ऐसे मिलेंगे जो डायरी का प्रयोग इस कार्य के लिये करते हैं। पर कुछ लोग ऐसी डायरियाँ रखते हैं और बच्चों के बारे में लिखा करते हैं। ऐसे लोगों की डायरी बालकों के विषय में अध्ययन करने में सहायता अवश्य पहुँचाती है, परंतु इसके द्वारा सभी अवस्था और सभी परिस्थिति के बच्चों के बारे में जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती। एक ही साथ एक व्यक्ति कई बालकों का निरीक्षण करके अपनी डायरी नहीं लिख सकता। एक व्यक्ति केवल एक अथवा दो लड़कों का निरीक्षण कर सकता है।

तुलना—इस उपकरण द्वारा हम बच्चों और जानवरों

के प्रारंभिक मनोवैज्ञानिक जीवन का मुकाबिला करके बालमन का अध्ययन करते हैं। हम देखते हैं कि जानवरों में अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ पाई जाती हैं और वे उन्हीं के आधार पर अपना काम करते हैं। जब कोई जानवर बच्चा देता है तो उस बच्चे को कोई दूध पीना, उछलना, कूदना, बैठना आदि नहीं सिखाता, वरन् ये सब व्यापार स्वाभाविकतः होते हैं। उसी प्रकार बालक भी पैदा होते ही माता के स्तनों से दूध पीना सीख जाता है। इसी तरह खेलने की प्रवृत्ति भी बच्चे के अंदर स्वभाव से ही रहती है। जब वे प्रसन्नता की हालत में रहते हैं तब उछलते-कूदते और दौड़ते हैं और दुःखी अवस्था में रोते हैं। ये सब प्रवृत्तियाँ बालकों में स्वभाव से ही वर्तमान रहती हैं।

बचपन की स्मृति—बालमन के अध्ययन के लिये बचपन की स्मृति भी एक उपकरण है। हम अपने बचपन की बातों को फिर से अपनी स्मृति में लाते हैं और उन्हीं के आधार पर बच्चों के अंदर आने वाले भिन्न भिन्न भावों और विचारों का अध्ययन करते हैं। हम अपनी स्मृति द्वारा यह बात जान जाते हैं कि बचपन में किसी वस्तु की कमी के कारण बच्चे के दिल पर कैसा प्रभाव पड़ता है। हमारे बचपन में जिन जिन परिस्थितियों में जैसी भावनाएँ उठती थीं वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे बच्चे में भी पाई जा सकती हैं। हम अपने बचपन की स्मृति और अनुभवों से बच्चों के विषय में मौलिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। बचपन के विषय में दूसरों से भी प्रश्न पूछ कर बहुत सी बातें जानी जा सकती हैं। दूसरे लोगों से उनके बचपन से संबंध रखने वाली बहुत सी बातों के विषय में प्रश्न पूछकर बचपन की प्रवृत्तियों के विषय में ठीक ठीक अध्ययन किया जा सकता है। बहुत से महापुरुषों ने तो अपनी जीवनियों को लिखकर बालमन

अध्ययन में बड़ी सहायता पहुँचाई है। उन्होंने अपनी जीवनियों में अपने बचपन की बातों को लिखकर एक स्थायी संपत्ति प्रदान की है। महाशय रूसो, महात्मा गांधी, पं० जवाहर लाल नेहरू आदि महापुरुषों ने अपनी जीवनियों में अपने बचपन का हाल लिखा है जिन्हें पढ़कर हम जानते हैं कि उनके हृदय में बाल्यावस्था में कैसे कैसे भाव उठते थे, समय तथा परिस्थिति के अनुसार उनमें कैसे कैसे परिवर्तन हुए तथा उनकी मानसिक शक्तियों में किस तरह विकास हुआ। उनके विकास के लिये कौन कौन सी बातों की आवश्यकता पड़ी। महात्मा गांधी की जीवनी से हम यह जानते हैं कि वे बाल्यकाल में मांस खाने से किस प्रकार भयभीत होते थे। मित्रों के आग्रह से एक बार मांस खा लेने से उनके हृदय में घृणा की अनेक भावनाएँ भर गईं। उनके हृदय में जीवों के प्रति सहानुभूति और प्रेम की भावना आई। महात्मा गांधी की इन भावनाओं का विकसित रूप आज हम उनके अहिंसावाद में देखते हैं। मुसोलिनी का जीवन-चरित्र पढ़ने से हमें ज्ञात होता है कि वह बाल्यावस्था में बड़ा लड़ाकू था। उसकी यह प्रवृत्ति विकसित अवस्था में इस समय दिखाई देती है।

पर इनके उपयोग में हमें कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए। अपनी जीवनी द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक रूप को प्रत्यक्ष करता है। ऐसी दशा में अनेक लोग अपना वास्तविक रूप न चित्रित कर बनावटी रूप खड़ा कर देते हैं। ऐसे लोग अपनी जीवनी को कलापूर्ण बनाने की धुन में वास्तविक बातों को छोड़कर बहुत सी प्रशंसनीय बातों को लिख लेते हैं। इस प्रकार की जीवनी बालमन के अध्ययन के लिये उपयोगी नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि समय के साथ साथ स्मरण-शक्ति

में भी परिवर्तन होता रहता है। इसलिये बचपन की बहुत सी मूल्यवान् तथा सार्थक बातें विस्मृत हो जाती हैं और लेखक इस विस्मरण की पूर्ति कल्पना द्वारा कर लेता है। अतएव उसका लेख प्रामाणिक नहीं रहता। तीसरी बात यह है कि अपनी जीवनी प्रायः थोड़े से विशिष्ट लोग लिखते हैं। इसलिये जीवनियों के आधार पर साधारण मनुष्यों के विषय में वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सकता। इन बातों के होते हुए भी मनोविज्ञान-शास्त्र उन महापुरुषों का सदा ऋणी रहेगा जिन्होंने अपनी जीवनियाँ लिखी हैं।

चित्त-विश्लेषण—जैसा पहले परिच्छेद में कहा जा चुका है चित्त-विश्लेषण द्वारा किसी भी व्यक्ति के बाल्यकाल के संस्कारों को जाना जा सकता है। बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन के लिये चित्त-विश्लेषण अब एक मुख्य उपकरण हो गया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि चित्त-विश्लेषक लोग बालक के जीवन में बहुत सी ऐसी बातें देख लेते हैं जिनका वास्तव में अंकुर मात्र भी नहीं; वे बालक की अवस्था को प्रौढ़ावस्था के दृष्टिकोण से देखते हैं और जो बातें प्रौढ़ावस्था में ही संभव हैं उनका आरोप बालक के जीवन में कर देते हैं। उदाहरण के लिये, कामवासना को लीजिए। कामवासना बालक में होना संभव नहीं, पर फ्रायड महाशय के अनुसार शिशु की अनेक चेष्टाएँ उसकी कामवासना की तृप्ति के लिये होती हैं। इस कथन से हम कदापि सहमत नहीं हो सकते, पर इतना अवश्य है कि बाल्य-काल की बहुत सी वासनाएँ दबाई जाती हैं, जिनके कारण बालक के जीवन में बड़े महत्त्व की घटनाएँ घटित होती हैं।

चौथा परिच्छेद

वंशानुक्रम और वातावरण

हम इस परिच्छेद में वंशानुक्रम और वातावरण पर विचार करेंगे और देखेंगे कि बच्चों के विकास पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है। साथ साथ हम यह भी विचार करेंगे कि बच्चे के विकास में शिक्षकों का क्या कर्त्तव्य है और बच्चों को किस प्रकार की शिक्षा देना उचित है।

वंशानुक्रम की महत्ता—बच्चों के ऊपर उनके वंशानुक्रम अर्थात् मात-पिता का बहुत असर पड़ता है। जिस प्रकार के माता-पिता होते हैं, प्रायः उसी के अनुरूप बच्चे भी हुआ करते हैं। हमारा नित्यप्रति का यह अनुभव है कि लड़के या लड़कियाँ रूप-रंग, सुंदरता एवं डील-डौल में अपने माँ-बाप के सदृश ही होते हैं। इतना ही नहीं वरन् देखने में यह आता है कि लड़का अपने मामा या चाचा के समान होता है और लड़की अपनी मामी, फूआ इत्यादि के सदृश होती है। उनकी समानता केवल शारीरिक बनावट ही में नहीं रहती, वरन् गुण, विद्या, वाणी स्वभाव आदि सभी बातों में बच्चे अपने वंश के अनुरूप ही होते हैं। इसीलिये सर्वसाधारण का यह विश्वास है कि सद्‌गुणी और बुद्धिमान् माँ-बाप के बच्चे गुणवान् तथा

बुद्धिमान् होते हैं और असभ्य तथा मूर्ख माँ-बाप के बच्चे मूर्ख, दुष्ट तथा दुराचारी होते हैं। सर्वसाधारण में यह कहावत भी प्रसिद्ध है—'जैसे जाके बाप-मतारी, वैसे वाके लरका'। बहुत से पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का भी यही मत है। अँगरेजी में भी एक छोटा सा वाक्य इस बात को स्पष्ट करता है 'लाइक टेंड्स टू बिगेट लाइक'। तात्पर्य यह कि बच्चों के शारीरिक तथा मानसिक बनावट पर उनके वंशानुक्रम का अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। प्रसिद्ध है 'पिता पर पूत देश पर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा'। हमें देखना चाहिए कि सर्वसाधारण का यह विश्वास कहाँ तक ठीक और सत्य है।

वातावरण का प्रभाव—इसमें संदेह नहीं कि वंशानुक्रम का प्रभाव बच्चों के जीवन पर पड़ता है। जब हम किसी अच्छे विद्वान् वंश में पैदा हुए बच्चे को किसी छोटे तथा असभ्य वंश में पैदा हुए बच्चे की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् तथा सभ्य पाते हैं तो हम समझ जाते हैं कि इस अंतर का मुख्य कारण इनका भिन्न-भिन्न वंशों में पैदा होना है। अधिकांश बच्चे अपनी कुल-मर्यादा का पालन करते हुए ही पाए जाते हैं। एक डाक्टर का लड़का डाक्टर और वकील का लड़का वकील होना चाहता है। इसी प्रकार बढ़ई का लड़का बढ़ई तथा किसान का लड़का किसान देखने में आता है। परंतु कौन कह सकता है कि यह वंशानुक्रम का ही प्रभाव है और वातावरण का नहीं? बढ़ई का लड़का बढ़ई और वकील का लड़का वकील इसलिये देखने में आता है कि उनका शिक्षण उनके शैशवकाल से ही माता-पिता के साथ में हुआ है, अर्थात् उनका पालन-पोषण उसी वातावरण में हुआ है जिसमें उनके माता-पिता रहते हैं। कदाचित् यह भी हो सकता है कि यदि बच्चा माता-पिता से अलग किसी

दूसरे वातावरण में पाला-पोसा जाय तो वह उस प्रकार का न हो जैसा वह अपने माता-पिता के साथ रहने से होता है। मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि-संबंधी प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि गरीब खान्दान में पैदा हुए बच्चे भी अच्छे तथा स्वस्थ वातावरण में पाले जाने से वैसे ही अच्छे और योग्य होते हैं जैसे उच्च कुटुंब के लड़के होते हैं। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। समाज में निरक्षर तथा गरीब किसान एवं मजदूरों के बच्चों को मजिस्ट्रेट तथा जज इत्यादि ऊँचे-ऊँचे पदों पर बैठने का सौभाग्य मिलता है। हमारे सामने ईश्वरचंद विद्यासागर का उदाहरण मौजूद है। ईश्वरचंद गरीब पिता के पुत्र थे; परंतु अपनी महत्वाकांक्षा तथा वातावरण के कारण ही वे भारत के महापुरुषों में से एक हुए। हेबर्ट साहब ने अपनी 'एजूकेशन और हेरिडिटी स्पेक्टर' (शिक्षा और वंशानुक्रम का भूत) नामक पुस्तक में लिखा है कि वंशानुक्रम एक भूत के समान है जो स्थिर बुद्धि से थोड़ा विचार करते ही अदृश्य हो जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि बच्चे के अंदर बहुत सी पैतृक संपत्तियाँ मौजूद रहती हैं, पर वे प्रायः सनी हुई मिट्टी के सदृश होती हैं। जैसे गीली मिट्टी को जो रूप चाहें दे सकते हैं उसी प्रकार शिक्षक बच्चे की पैतृक संपत्ति का उसके विकास में जिस प्रकार चाहें उपयोग कर सकते हैं। इसलिये अच्छी शिक्षा और अच्छे अड़ोस पड़ोस के द्वारा बालक इतना योग्य हो सकता है जितना कि उसके पूर्व पुरुषों में कोई भी न हुआ हो। इतिहास इस कथन का साक्षी है। शिवाजी, रंजीतसिंह, नेपोलियन और लेनिन इत्यादि बड़े बड़े वीरों की उन्नति वंशपरंपरा के कारण नहीं वरन् वातावरण और शिक्षा के बल पर हुई थी। ऐसे और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। मरी द्वीप के निवासियों

के विषय में कहा जाता है कि स्काटिश विजय के पहले इनकी भाषा में छः से अधिक अंक नहीं थे। छः के ऊपर जब कभी अधिक संख्या का बोध करना हो तो उसे वे लोग साफ-साफ नहीं प्रगट कर सकते थे। परंतु जब स्काटिश लोगों ने इस द्वीप पर अपना अधिकार जमा लिया और उन लोगों ने मरी द्वीप निवासियों को शिक्षित बनाया तब यह जाति भी संसार की किसी भी उन्नति-शील तथा सभ्य जाति से गणित विद्या में पीछे न रही। उसी प्रकार भारतवर्ष की संथाल तथा अन्य अछूत जातियों के अंदर विद्या के प्रचार ने आश्चर्यजनक परिणाम दिखलाया है। इससे तो हमें स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि मनुष्य की उन्नति में वंशानुक्रम ही हमेशा काम नहीं करता; वरन् इसके सिवाय और भी कारण हैं जो हमें उन्नत बनाते हैं। बहुत से होनहार बच्चों का विकास केवल इसीलिये नहीं होता कि उन्हें आवश्यक साधन नहीं प्राप्त होते। ऐसे होनहार बालक या तो किसी मूर्ख माँ-बाप के हाथ में पड़कर नष्ट हो जाते हैं या पैसे के अभाव में दरिद्रता के कारण विकसित होने के पूर्व ही कुम्हला जाते हैं। समाज की यह अमूल्य संपत्ति उसकी असावधानी के कारण बिना कुछ समाज का काम किए हुए असमय में ही नष्ट हो जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत से मनोवैज्ञानिकों का स्पष्ट मत है कि बालकों के विकास में वंशानुक्रम का कोई महत्त्व नहीं। बालक को हम जिस तरह चाहें बना सकते हैं। उनके विकास में वातावरण का ही विशेष महत्त्व है।

गाल्टन महाशय की खोज—महाशय गाल्टन के अनुसार हम वंशानुक्रम के प्रभाव को किसी प्रकार भी हेय नहीं समझ सकते। कई मनोवैज्ञानिकों का तो कहना है कि वंशानुक्रम का प्रभाव बच्चे के विकास पर विशेष रूप

से पड़ता है। गाल्टन ने वंशानुक्रम के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिये ऊँचे कुटुंब के ६७७ बड़े लोगों की जीवनियां का अध्ययन किया था और उसका परिणाम अपनी 'हेरेडिटरी जीनियस' नामक पुस्तक में लिखा है। इन बड़े-बड़े लोगों में जज, राजनीतिज्ञ, प्रधान मंत्री, सेनापति. साहित्यकार, वैज्ञानिक तथा कवि इत्यादि लोग शामिल थे। गाल्टन इस बात को जानना चाहते थे कि इनके संबंधी साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक मात्रा में बड़े थे अथवा नहीं। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके अधिकतर संबंधी मान-प्रतिष्ठा के लोग ही थे। सैंडी फोर्ड ने इस नतीजे को इस प्रकार दिखलाया है—

	संबंधी	बड़े होने वालों की संख्या—	
६७७ बड़े मनुष्य	पिता — —	९४	३६२
	भाई — —	१२३	
	लड़का — —	१४५	
	दादा — —	५०	२१२
	पोता — —	४२	
	चाचा — —	५४	
	भतीजा — —	६६	

वंशानुक्रम तथा शिक्षा का आदर्शवाद—यूरप के उन्नीसवीं शताब्दी के बड़े-बड़े शिक्षकों का कहना था कि बच्चे के विकास में वंशपरंपरा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। लाक महोदय ने मस्तिष्क को एक साफ तख्ता बतलाया है जिसका विकास बाह्य जगत से प्राप्त प्रभावों द्वारा होता है। जर्मनी के शिक्षकों का यह विश्वास था कि शिक्षा द्वारा समाज की सारी

बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं। वे मनुष्य-समाज को उन्नत बनाने में सदा प्रयत्नशील रहते थे। उनका यह विश्वास नहीं था कि मनुष्य की उन्नति उसके वंशानुक्रम की सीमा से बद्ध है। वे समाज को ऊँचा उठाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते थे और कभी हताश नहीं होते थे।

इस बात के मानने में किसी को संदेह न होगा कि वंशानुक्रम और वातावरण का शिक्षा से घनिष्ठ संबंध है। हम बालकों को जैसी शिक्षा देंगे वैसे ही हमारे बालक भी होंगे। अब हम विचार करेंगे कि वास्तव में वंशानुक्रम का बच्चों के विकास में क्या महत्व है। कई विद्वानों ने वंशानुक्रम के विषय में अनेक खोजें की हैं तथा शिक्षा संबंधी अनेक प्रयोगों द्वारा वंशानुक्रम के प्रभाव को सिद्ध किया है। वाइजमैन, मैंडल तथा गाल्टन की खोजें इस विषय में महत्त्व की हैं। इनके विषय में नीचे हम थोड़ा सा विचार करेंगे।

ज्यूक का वंश—फ्रांसिस गाल्टन साहब ने आठ जुड़वें बच्चों के विषय में अध्ययन किया और अपना अनुभव इस प्रकार लिखा है—"इन जुड़वें बच्चों की समता उन घड़ियों से की जा सकती है जो एक ही फैक्टरी द्वारा तैयार की गई हों और जिन्हें चलाने के लिये एक ही समय पर चाभी दी गई हो।" अर्थात् वे लड़के सभी बातों में एक दूसरे से मिलते जुलते थे। इसी प्रकार से बहुत से विद्वानों ने कई वंशों के इतिहास के विषय में अध्ययन किया है और यह परिणाम निकाला है कि वंशानुक्रम का प्रभाव बच्चों के ऊपर अमिटरूप से पड़ता है। इस प्रकार का उदाहरण हम ज्यूक वंश वालों के इतिहास में पाते हैं। ज्यूक अमेरिका का एक निरुद्यमी शिकारी और माझी था। उसके लड़कों का विवाह

नीच वंश वाली लड़कियों के साथ हुआ। इसका फल यह हुआ कि उस कुटुंब में प्राय: सभी बच्चे अस्वस्थ, चोर, लंपट और जुआरी पैदा हुए। श्री टी० पी० नन ने इनके विषय में लिखा है कि पाँच पीढ़ी में कुल एक हजार बच्चे पैदा हुए जिसमें ३०० बच्चे पैदा होते ही मर गए, ३१० बच्चे कुछ बड़े होने पर मर गए, ४४० रोग के शिकार हुए, ३०० निरुद्यमी पैदा हुए जो अपना जीवन भिक्षा पर व्यतीत करते थे और १३० को कैद की सजा हुई जिनमें ७ खूनी थे। केवल २० ऐसे निकले जो जीविकोपार्जन के लिये कुछ परिश्रम कर सकते थे। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि वंशानुक्रम का प्रभाव बच्चों के विकास पर अवश्य पड़ता है।

कैंडोल का कथन—बहुत से विद्वानों का सिद्धांत उपर्युक्त सिद्धांत के विपरीत है। उनका कथन है कि वास्तव में वातावरण का प्रभाव वंशानुक्रम की अपेक्षा बच्चों के विकास पर अधिक पड़ता है। फ्रांस के कैंडोल महाशय ने यूरप के ५५२ प्रसिद्ध कुटुंबों के विषय में अध्ययन करके यह सिद्ध कर दिया है कि वातावरण का प्रभाव ही विशेष महत्त्व का है। उन्होंने लिखा है, इन कुटुंबों के प्राय: सभी लोग धनी और ऊँचे दरजे के थे, उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिये सुगमता थी और शिक्षित लोगों और सहानुभूति-पूर्ण सरकार से भी उन्हें प्रोत्साहन मिलता था। इसका परिणाम यह हुआ कि वे लोग विद्वान् और ऊँचे दरजे वाले हुए।

अतएव वातावरण के प्रभाव को हम हेय नहीं समझ सकते। जो व्यक्ति जिस प्रकार के समाज में रहता है, जैसे उसके साथी होते हैं, जैसा उसका वातावरण होता है, वैसा ही वह व्यक्ति भी हो जाता है। अगर वातावरण अच्छा है तो

उसमें रहने वाले बच्चे भी अच्छे तथा सदाचारी होंगे और यदि वातावरण गंदा और दूषित है तो उसमें रहने वाले बच्चे भी दुराचारी, चोर, लंपट और जुआरी होंगे। इसलिये माता-पिता, शिक्षक सबका यह धर्म है कि बच्चों के लिये स्वस्थ और उपयोगी वातावरण तैयार करें और उन्हें दूषित वातावरण से बचाएँ।

मेंडलवाद—वंशानुक्रम का एक नियम मेंडल महोदय ने दिया है। मेंडल ने दो प्रकार की मटरों को मिला कर पैदा करने का प्रयोग किया। इस तरीके से दोनस्ली जाति की जो मटर पैदा हुई उसे फिर बोया गया। अब की बार केवल ५० प्रति सैकड़ा दोगली नस्ल वाली मटर पैदा हुई। यह प्रयोग कई फसलों तक किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि असल नस्ल की मटर बढ़ गई और दोगली नस्ल की मटरें लुप्त होती गईं। इस बात को नीचे लिखे चित्र से स्पष्ट किया जाता है—
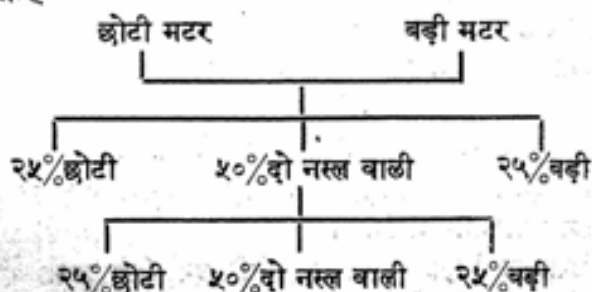
जिस प्रकार से मटर के साथ प्रयोग किया था उसी प्रकार चूहों के साथ भी प्रयोग किया गया और इस प्रयोग का परिणाम भी मटर के प्रयोग के सदृश हुआ; अर्थात् दो भिन्न-भिन्न जाति के चूहों के सम्मेलन से एक दूसरी नस्ल के चूहे पैदा हुए। इस

प्रयोग को कई पीढ़ियों तक जारी रखने से दोगली जाति के चूहों का लोप हो गया।

उपार्जित गुणों का वितरण—वंशानुक्रम और वातावरण, इन दोनों का ही बच्चों के विकास के लिये बड़ा महत्व है इनमें से किसी एक को पूरा महत्व देना और दूसरे को हेय समझना वांछनीय नहीं। अब यहाँ देखना है कि प्राणियों में विकास किस तरह होता है। लेमार्क महोदय का कहना है कि प्राणियों के अंदर एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह अपने को वातावरण के अनुकूल बना सकता है। यह आभ्यंतरिक शक्ति ही विकास का कारण है। लेमार्क महोदय ने अपने सिद्धांत को सिद्ध करने के लिये एक उदाहरण दिया है। अफ्रीका में रहने वाले जिराफ नामक जानवर की गरदन पहले इतनी लंबी नहीं होती थी, लेकिन पेड़ के पत्तों तक पहुँचने के लिये उसने निरंतर प्रयत्न किया; इससे उसकी गरदन लंबी हो गई और अब हम उसकी वंशपरंपरा में उसी प्रकार की लंबी गरदन पाते हैं। इस सिद्धांत में हम देखते हैं कि एक पीढ़ी की अर्जित संपत्ति दूसरी पीढ़ी में भी आ जाती है। पर वाइजमैन के अनुसार बच्चों में वही पैतृक गुण ही पाए जाते हैं जो परंपरा से आए हैं। पैतृक संपत्ति के आधार जीवाणु जिन्हें जर्मप्लाज्म कहते हैं, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाते हैं। इनमें परिवर्तन नहीं होता।

उपार्जित पैतृक गुणों का पीढ़ी दर पीढ़ी आना संभव नहीं, वाइजमैन ने चूहों के ऊपर इसका प्रयोग करके देखा। प्रत्येक पीढ़ी में चूहे की पूँछ काट दी जाती थी पर प्रत्येक नई पीढ़ी में पूँछ देखने में आती थी। ऐसा कभी नहीं हुआ कि पूँछ कटे हुए चूहों के बच्चे भी बिना पूँछ के हुए हों। हमारा नित्यप्रति

का अनुभव भी यही बतलाता है कि माँ-बाप की अर्जित संपत्ति बच्चों में आवश्यक रूप से नहीं पाई जाती। जैसे किसी लँगड़े व्यक्ति के लड़के लँगड़े या अंधे के अंधे नहीं होते। लेमार्क के सिद्धांत को डारविन साहब ने नहीं माना है। डारविन साहब का कहना है कि जिराफ की गरदन में परिवर्तन भीतरी शक्ति के कारण नहीं हुआ है, वरन् ऐसे परिवर्तन आकस्मिक होते हैं। विकास का कारण डारविन साहब ने दूसरा बतलाया है। उनका कहना है कि विकास विभिन्न आकस्मिक परिस्थितियों और प्राकृतिक अवस्थाओं के कारण होता है।

मेकडूगल का मत—मेकडूगल के अनुसार प्राप्त किए हुए गुणों का पीढ़ी दर पीढ़ी वितरण होता है। मेकडूगल ने इस सिद्धांत का प्रयोग भी चूहों पर कर के देखा। उन्होंने कुछ चूहों को तालाब में छोड़ दिया और तालाब में दो रास्ते बनवाए। एक तो अँधेरा था और दूसरे में बिजली लगाई गई। स्वभावतः पहले चूहे प्रकाशित मार्ग से ही गए परंतु बिजली का धक्का लगने के कारण उन्होंने धीरे-धीरे अपनी गलती सुधारी। पीढ़ी दर पीढ़ी चूहों पर इस प्रकार का प्रयोग किया गया और देखा गया कि उनकी गलतियाँ कम होती गईं। पहली पीढ़ी में ६० गलतियाँ हुईं पर २३ वीं पीढ़ी में केवल २५ गलतियाँ हुईं।

सिद्धांतों का निष्कर्ष—उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि वातावरण और वंशानुक्रम दोनों बालक के विकास के लिये आवश्यक हैं। बालक की कुछ रुचियाँ जन्म से रहती हैं और कुछ वातावरण का परिणाम होती हैं। जिन बच्चों को अपनी रुचि के अनुसार कार्य-क्षेत्र मिलता है वे ही इस संसार में उन्नति करते हैं; जिनको अपनी रुचि के अनुसार वातावरण नहीं मिलता वे संसार में उन्नति नहीं

करते। इसलिये प्रत्येक माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षक का परम कर्तव्य है कि बालक को प्रारंभ ही से उसकी प्रकृति के अनुसार शिक्षा दें। बालकों की शिक्षा और वातावरण इस प्रकार होना चाहिए जिससे उनके अंदर सद्गुणों का विकास हो और उनके दूषित व्यवहार दूर हो जायँ। हमारी शिक्षा का आदर्श सदैव यही होना चाहिए कि बच्चे राष्ट्र का काम करने के लिये योग्य और गुणवान् बनें। हमें यह याद रखना चाहिए कि सुशिक्षा से ही हम अपने बालकों को महान् आदर्श की ओर ले जा सकते हैं। यदि हम यह कहें कि शिक्षा और शिक्षक ही बालकों के जीवन को बनाने और बिगाड़ने वाले हैं तो इसमें अत्युक्ति न होगी। जन्म से ही कोई व्यक्ति सद्गुणी अथवा दुर्गुणी नहीं होता। गुणवान् अथवा दुर्गुणी होना उसके लालन-पालन और शिक्षा पर निर्भर रहता है।

पाँचवाँ परिच्छेद

बालकों का स्वाभाविक व्यवहार

मनुष्य की सब क्रियाओं को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—सहज क्रियाएँ
२—मूल प्रवृत्तियाँ
३—आदतें
४—विचार-मय क्रियाएँ

प्रथम दो प्रकार की क्रियाएँ हरएक प्राणी में पाई जाती हैं और पिछली दो प्रकार की क्रियाएँ मनुष्य के जीवन ही में देखी जाती हैं। बालक के जीवन में सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों की प्रधानता रहती है, पर जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती जाती है वैसे वैसे विचारमय क्रियाएँ और आदतें प्रधान होती जाती हैं। उसकी मूल प्रवृत्तियों और कुछ सहज क्रियाओं में इतना परिवर्तन हो जाता है कि हम उसकी प्रौढ़ावस्था में यह जान नहीं सकते कि बालक ने जन्म से किसी प्रकार की कार्य करने की शक्ति को प्राप्त किया है अथवा नहीं।

मनुष्य और पशुओं के व्यवहारों की तुलना— जब हम बालक के स्वाभाविक अर्थात् जन्म से आए व्यवहारों की दूसरे पशुओं के व्यवहारों से तुलना करते हैं तब हम देखते हैं कि प्रकृति ने बालक को बहुत थोड़ी सी ही प्रवृत्तियाँ या कार्य करने की योग्यता दी है जिससे वह बिना सिखाए जीवन चला सके। वास्तव में बालक का जीवन-विकास तथा उसकी सफलता शिक्षा पर ही निर्भर है। बालक अपनी साधारण

से साधारण बातें दूसरे लोगों से सीखता है। यदि वह अपने जीवन का कार्य चलाने की शिक्षा न पाए तो वह जीवित भी न रह सके। यदि हम एक बत्तक के बच्चे को जो कि पानी में कभी गया न हो, पानी में डाल दें तो वह तैरने लगेगा। मुर्गी के बच्चे अपनी माँ के न रहने पर भी दाना चुगना सीख जाते हैं। एक तोते का बच्चा बड़े जानवरों से जान बचाकर भागना, दाना चुगना इत्यादि कार्य थोड़े ही काल में सीख लेता है। मानो वह इन सब कार्यों की तैयारी पहले से ही करके आया हो। पर मनुष्य के बच्चे जन्म से असहाय होते हैं और जीवन के उपयोगी कार्य सीखने में बहुत समय लगाते हैं; या यों कहा जाय कि मनुष्य जन्म भर सीखता ही रहता है। उसकी सहज क्रियाएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ ऐसी नहीं होतीं जिनसे कि उसके जीवन का काम चल सके। बालक जन्म से कोई विशेष कार्य करने की योग्यता लेकर नहीं पैदा होता, जैसा कि पशुपक्षियों के विषय में कहा जा सकता है। पक्षी को कोई घोंसला बनाना नहीं सिखलाता, पर जब उसे जरूरत होती, है वह इस प्रकार घोंसला बनाता है मानो उसने एक अच्छे कारीगर से यह कला सीखी हो। प्रकृति ने जन्म से ही उसमें इस प्रकार की प्रवृत्ति पैदा कर दी है कि वह अपने आप अपने बच्चों को सुरक्षित रखने के लिये एक निवास-स्थान बना ले। बालकों को इस प्रकार की कोई नैसर्गिक शक्ति प्राप्त नहीं। बिना सिखाए हुए अपने रहने का स्थान बनाना तो दूर रहा, वह साधारण से साधारण कार्य भी नहीं कर सकता। कहा जाता है कि नेपोलियन ने एक बार मनुष्य का स्वाभाविक मजहब जानने के लिये बीस बच्चों को, जब वे कुछ महीनों की उम्र के थे, अकेले रखा और इनसे किसी को बोलने की आज्ञा न दी। उनको

खिलाया-पिलाया तो जाता था पर उनके सामने कोई बातचीत नहीं की जाती थी। दो साल के प्रयोग के बाद ज्ञात हुआ कि उनमें से अधिक लड़के गूँगे हो गए और कुछ का गूँगापन सदा के लिये हो गया। यदि हम बालक को प्रयत्न करके भाषा न सिखाएँ तो वह बोलना भी न सीखे। समाज के सभी आचार-व्यवहार जिनसे कि वह अपना जीवन चला सकता है, सीखने से आते हैं।

जहाँ मनुष्य को प्रकृति ने इतनी कमी दी है वहाँ उसे कुछ ऐसी बातें भी उसने प्रदान की हैं जिनके कारण वह सृष्टि के सब प्राणियों पर अपना आधिपत्य जमा लेता है। यदि विचार से देखा जाय तो वास्तव में उसकी स्वाभाविक कमी में ही उसकी महानता की जड़ है। मनुष्य में सीखने की अद्भुत शक्ति है। इस सीखने की शक्ति का आधार मूल प्रवृत्तियों की एक प्रकार की कमी है। यदि प्रकृति जन्म से ही ऐसी आदतें प्रदान कर देती जिससे उसके जीवन का कार्य चल जाता, तो उसे नई बातें सीखने की कोई आवश्यकता ही न होती। साथ ही साथ मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन होना भी कठिन होता। पशुपक्षियों की मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन होना असंभव सा है, पर मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील हैं। उनका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। अतएव किसी भी एक मूल प्रवृत्ति के आधार पर हम बालक को अनेक जीवनोपयोगी बातें सिखा सकते हैं। वातावरण में जिस प्रकार की आवश्यकताएँ पैदा होती हैं उसके अनुसार मनुष्य अपना व्यवहार बदल लेता है। अतएव माता-पिता और शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे बालकों का मन इस योग्य रखें कि वे समय के अनुसार सदा अपना व्यवहार

बदल सकें। जब अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने की योग्यता हममें नहीं रहती तब हम पशुवर्ग में शामिल हो जाते हैं।

नैसर्गिक और अर्जित क्रियाओं का अनुपात—उपर्युक्त कथन से यह कदापि न समझा जाय कि बालक को जन्म से किसी प्रकार का कार्य करने की प्रवृत्ति है ही नहीं। ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, पर वे सब परिवर्तनशील हैं। आयु और अनुभव के बढ़ने से जीवन में उनका महत्व कम हो जाता है। उनकी अपेक्षा उपार्जित व्यवहारों का महत्व अधिक होता है। इसे हम नीचे लिखे हुए चित्र से स्पष्ट करेंगे—

बालपन | प्रौढ़ावस्था

अपरिवर्तनशील वा नैसर्गिक व्यवहार

(अ)

(ब)

परिवर्तनशील
वा
सीखे हुए व्यवहार
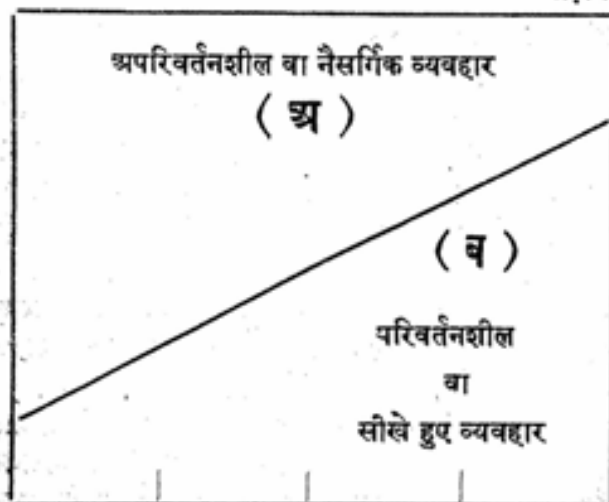
शारीरिक प्रक्रियाएँ | सहज क्रियाएँ | मूलप्रवृत्तियाँ | आदतें वा विचारमय क्रियाएँ

मनुष्य के नैसर्गिक एवं सीखे हुए व्यवहार—ऊपर के चित्र में यह बताया है कि मनुष्य का जीवन नैसर्गिक और सीखे हुए या अर्जित, दो प्रकार के व्यवहारों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती है, नैसर्गिक व्यवहारों की कमी होती है और अर्जित व्यवहारों की वृद्धि होती है। इसी बात में उसका मनोविकास है। यदि हम ऊपर के चित्र के (अ) घर को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि बालपन में नैसर्गिक व्यवहारों की अधिकता रहती है और प्रौढ़ावस्था में वे बहुत कम हो जाते हैं। अब यदि हम (ब) घर की ओर ध्यान दें तो देखेंगे कि मनुष्य के जीवन में किस प्रकार नैसर्गिक व्यवहारों की कमी होती है और आयु की वृद्धि के साथ अर्जित व्यवहारों में वृद्धि होती है। अर्जित व्यवहार बालपन में थोड़े ही होते हैं पर प्रौढ़ावस्था में उनका आधिक्य इतना हो जाता है कि प्रायः हमारे जीवन का सारा कार्य अर्जित व्यवहारों से होने लगता है। चित्र में चार प्रकार के व्यवहार बताए गए हैं—शारीरिक प्रक्रियाएँ, सहज क्रियाएँ, मूल प्रवृत्तियाँ और आदतें या विचारमय क्रियाएँ। अब हम यहाँ एक एक प्रकार के व्यवहारों के विषय में विचार करेंगे और यह देखेंगे कि बालक के जीवन में उनकी कहाँ तक महत्ता है।

शारीरिक प्रक्रियाएँ—ये क्रियाएँ अपने आप शरीर में चला करती हैं। इनमें परिवर्तन होना संभव नहीं। इनके कारण हमारा खाना पीना हजम होता है और शरीर में शक्ति पैदा होती है। बालक के पोषण की दृष्टि से इनके विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते।

सहज क्रियाएँ—ये वे क्रियाएँ हैं जो शरीर-रक्षा के लिये समय आने पर अपने आप हो जाती हैं। जैसे पलक का गिरना, छींक आना, खुजलाना आदि। हमारी आँखों की पलकें समय आने पर अपने आप बंद हो जाती हैं और उनकी रक्षा कर लेती हैं। यदि नाक में कोई छोटी मोटी गंदी चीज घुस जाय तो हमें अपने आप जोर से छींक आती है और वह चीज एकदम बाहर निकल जाती है। इन सब प्रक्रियाओं में दिमाग का कुछ कार्य नहीं होता। दिमाग का कार्य यदि ऐसी क्रियाओं के लिये आवश्यक हो जाय तो हमारा जीवन दुर्लभ हो जाय। यदि हम दिमाग से सोचकर पलक बंद करें अथवा विचारपूर्वक छींकें तो पलक बंद होने की और छींक की उपयोगिता ही जाती रहे।

बालक के जीवन में ऐसी अनेक सहज क्रियाएँ होती हैं। इनके द्वारा ही उसके जीवन की रक्षा होती है। बालक का माँ का दूध चूसना एक सहज क्रिया है। जब बालक पैदा होता है तभी से यह सहज क्रिया आरंभ हो जाती है।

सहज क्रियाओं में परिवर्तन—सहज क्रियाओं में कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार परिवर्तन होना संभव नहीं, पर दूसरे लोगों का विचार यह है कि सहज क्रियाओं में भी परिवर्तन हो जाते हैं। जब एक कुत्ते के सामने खाना आता है तो उसके मुँह में लार आती है। लार का आना एक सहज क्रिया है। इसका संबंध खाने से है, किसी अन्य वस्तु से नहीं। पर जब कुत्ते को खाना दिया जाता है उसके पहले यदि नियमित रूप से घंटी बजाई जाय तो कुछ काल के बाद घंटी की आवाज से ही कुत्ते के मुँह में लार आने लगेगी। रूस के पेवलाव महाशय ने इस संबंध में अनेक प्रयोग किए हैं। जिस प्रकार लार

आने के विषय में परिवर्तन हो जाता है उसी प्रकार कई और सहज क्रियाओं में भी परिवर्तन हो जाता है। जब हम बाहर से कोई जोर की आवाज सुनते हैं तो हम अनायास ही उस ओर देखने लगते हैं; यह एक प्रकार की सहज क्रिया है। पर यदि बार बार निरर्थक आवाजें आया करें तो फिर हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता। इस तरह के परिवर्तन बालक की सहज क्रियाओं में अनेक होते हैं।

बालक के जीवन में सहज क्रियाओं का भारी महत्व है। बालक का प्रारंभिक जीवन इन्हीं सहज क्रियाओं पर निर्भर रहता है। कभी-कभी माता पिता की अज्ञानता के कारण बालक की सहज क्रियाओं में ऐसा परिवर्तन हो जाता है जो बालक के जीवन के लिये घातक होता है। यहाँ एक उदाहरण उल्लेखनीय है। एक बच्चा एक ब्राह्मण के घर में पंचक मुहूर्त में पैदा हुआ। हिंदू लोग प्रायः पंचक में किसी नए काम को प्रारंभ करना अशुभ मानते हैं। अतएव उस बालक के मुँह में माँ का दूध नहीं दिया गया; उसे फाहे के द्वारा दूध पिलाया गया। पाँच दिन तक इसी प्रकार दूध पिलाए जाने से बालक की माता का स्तन मुँह में लेने की स्वाभाविक प्रवृत्ति में परिवर्तन हो गया। परिणाम यह हुआ कि जब बालक के मुँह में मुहूर्त पूरे होने के बाद स्तन दिया गया तो वह उसे चूस न सका। उसकी माँ का दूध पीने की सहज क्रिया ही लोप हो गई। इधर माँ का दूध भी माँ के स्तन से न निकला जिससे उसे भयंकर रोग हो गया। कुछ काल के बाद वह बच्चा मर गया और उसकी माँ को महीनों अस्पताल में रहना पड़ा।

कई मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारा जीवन सहज क्रियाओं और उनके परिवर्तित स्वरूपों का पुंज है। इनके

अतिरिक्त मनुष्य के व्यवहार में और कुछ नहीं देखा जाता। यह मत वाटसन महाशय तथा दूसरे व्यवहारवादियों का है। इसके प्रतिकूल मैकडूगल तथा स्टाउट इत्यादि मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि सहज क्रियाएँ अंधी होती हैं और उनको हम उन क्रियाओं की गणना में नहीं रख सकते जो बुद्धि और विचार द्वारा संचालित होती हैं। आदतों और निश्चयमय क्रियाओं में तो बुद्धि का विशेष स्थान रहता ही है, मूल-प्रवृत्तियों (इन्सटिंक्ट्स) में भी बुद्धि का कार्य रहता है। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि हमें बालक की सहज क्रियाओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

छठा परिच्छेद

मूल प्रवृत्तियाँ

मूल प्रवृत्तियों का बालक के जीवन में स्थान—ऊपर कहा जा चुका है कि बालक के जीवन में हम दो प्रकार के व्यवहार पाते हैं कुछ व्यवहार ऐसे हैं जिनकी योग्यता और प्रवृत्ति उसे जन्म से प्राप्त है और कुछ ऐसे हैं जो वह इस जीवन में ही सीखता है। मनुष्य मात्र का जीवन इन्हीं दो प्रकार के व्यवहारों का बना हुआ है। इनमें से हम सहज क्रियाओं का वर्णन ऊपर कर चुके हैं। सहज क्रिया बालक के जन्म के साथ आती है। इसी तरह नैसर्गिक आदतें और मूल प्रवृत्तियाँ (इन्सटिंक्ट) भी बालक के जन्म से ही उसके साथ हैं। इन्हीं मूल प्रवृत्तियों और नैसर्गिक आदतों में परिवर्तन होकर बालक के जीवन का विकास होता है।

नैसर्गिक आदतें हम प्राणिमात्र में पाते हैं। मनुष्य का छोड़ दूसरे सभी प्राणियों के जीवन चलाने के साधन यही नैसर्गिक आदतें होती हैं। यदि एक मुर्गी के बच्चे में सफेद चीज देखकर चोंच मारने की प्रवृत्ति न हो तो वह भूख के मारे मर जायगा। वह एक बड़े जानवर को देखकर भाग जाता है। जब जोर से आवाज होती है तब पशु-पक्षी भागने

लगते हैं; ऐसा उनकी प्राणरक्षा की प्रवृत्ति के जागरण के कारण ही होता है। इसी तरह जब बालक कोई बहुत बड़ी नई चीज को देखता है तब उससे भागने का प्रयत्न करता है। जोर की आवाज लड़कों को डरा देती है। किसी नई वस्तु को देखकर बालक उसको जानने के विषय में उत्सुक हो जाते हैं। यह सब कार्य नैसर्गिक आदत और मूल प्रवृत्ति के कार्यशील होने से ही होता।

पशु और मनुष्य की प्रवृत्तियों की तुलना— पशुपक्षी और मनुष्य दोनों में ही मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं। पर दोनों की मूल प्रवृत्तियों में भेद है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ वास्तव में आदत जैसी नहीं होतीं। वे इस प्रकार दृढ़ नहीं होतीं जिस तरह कि पशु और पक्षियों की मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं। यदि हम बत्तक के बच्चे को जो कभी पानी में न गया हो पानी में डाल दें तो वह तुरंत ही तैरने लग जायगा। चिड़िया के बच्चे को घोंसला बनाना कौन सिखाता है? जब बच्चा बड़ा होता है और उसे घोंसले की जरूर पड़ती है तो वह स्वयं अपने योग्य घोंसला बना लेता है। कोई कोई चिड़ियाँ तो इतनी कारीगरी से घोंसला बनाती हैं कि हम उनके उस कार्य को देखकर विस्मित हो जाते हैं। यदि हमें वैसा घोंसला बनाना पड़े तो हम कितने ही दिन सीखने में लगा देंगे। पर चिड़िया का बच्चा स्वभावतः ही इस कार्य में प्रवीण होता है।

मनुष्य का बालक बिना सिखाए कुछ भी नहीं कर सकता। मनुष्य के बच्चे को प्रकृति ने इतना असहाय बनाया है कि यदि उसको योग्य शिक्षा न दी जाय तो वह कदापि अपना जीवन न चला सके; उसे दूसरे प्राणी अवश्य ही मार

डालें। मनुष्य बिना शिक्षा की सहायता के दूसरे प्राणियों से कदापि जीवन-संग्राम में जीत नहीं सकता। उसकी नैसर्गिक आदतें किंचित् मात्र उसे आजीविका उपार्जन करने और दूसरे प्राणियों से बचने में सहायता करती हैं।

पर जहाँ प्रकृति ने मनुष्य के बच्चे को ऐसा असहाय बनाया वहाँ उसे यह शक्ति भी प्रदान की है कि वह सब प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर सकता है और इस शिक्षा के द्वारा अपने आपको इतना बली बना सकता है कि वह पशुओं का राजा बन जाय। एक तरह से देखा जाय तो मनुष्य की महानता उसकी नैसर्गिक आदतों की त्रुटि में ही है। यदि बालक की नैसर्गिक आदतें दृढ़ और जटिल होतीं, जैसी कि दूसरे प्राणियों की आदतें हैं, तो वह उनमें परिवर्तन न कर सकता, अतएव नई बातें सीखना असंभव हो जाता। हम बालक को जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं। उसकी शिक्षा का काल अति दीर्घ होता है। मनुष्य एक तरह से आजन्म शिक्षा पाता रहता है। हाँ, जब उसकी उपार्जित आदतें अधिक दृढ़ हो जाती हैं तब शिक्षा का प्रभाव उसके जीवन पर उतना नहीं होता जितना कि बाल्यकाल में होता है। यदि मनुष्य के विकास में कोई बाधा होती है तो वह बाधा वातावरण और शिक्षा की कमी की रहती है। स्वभावतः मनुष्य के बच्चे को प्रकृति ने सब प्रकार की ऐसी सामग्री प्रदान की है जिससे वह अपने जीवन को उच्च से उच्च बना सकता है। कम से कम इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि योग्य वातावरण और शिक्षा मिलने पर मनुष्य ऐसे विस्मयपूर्ण कार्य कर सकता है जो योग्य वातावरण न मिलने से असंभव होते।

कुत्ते के पिल्ले को देखिए। उसे जो कुछ अपने जीवन के निर्वाह के लिये सीखना है वह थोड़े ही काल में सीख लेता है।

अर्थात् उसे बहुत कम ही सीखना रहता है; उसके जीवन के लिये अपनी मूल प्रवृत्तियाँ पर्याप्त काम करती हैं। उसे अधिक सीखने की न तो आवश्यकता है और न उसमें इस बात की योग्यता है। उसकी मूल प्रवृत्तियों में अधिक परिवर्तन होना संभव ही नहीं। बालक की मूल प्रवृत्तियाँ जो भी हैं इतनी कोमल होती हैं कि हम उन्हें जिस तरफ चाहें मोड़ ले सकते हैं। अतएव मनुष्य के बच्चे में शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता है। हम साथ ही साथ यह भी देखते हैं कि मनुष्य के बच्चे को शिक्षा की आवश्यकता भी उतनी ही अधिक है जितनी कि उसकी योग्यता है।

मनुष्य की मुख्य मूल प्रवृत्तियाँ—ऊपर कहा जा चुका है कि सब प्राणियों में मूल प्रवृत्तियाँ अर्थात् होती हैं। इसी प्रकार मनुष्य की भी मूल प्रवृत्तियाँ हैं। पर उनका स्वरूप इतना अनिश्चित है और वे इतनी परिवर्त्तनशील हैं कि कई विद्वानों ने यह भी कहा कि मनुष्य में मूल प्रवृत्तियाँ होतीं ही नहीं। इनका क्षेत्र पशु-पक्षी ही हैं। पर यह बात सिद्ध है कि मनुष्य में मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं, चाहे वे कितनी ही परिवर्त्तनशील क्यों न हों। मैकडूगल महाशय ने मनुष्यों में चौदह मूल प्रवृत्तियाँ बताई हैं। उनके निम्नलिखित नाम हैं। हम उन्हें तीन वर्गों में बिभाजित कर सकते हैं। प्राणरक्षा संबंधी, संतानोत्पत्ति संबंधी और समाज संबंधी।

(१) प्राणरक्षा संबंधी—भोजन ढूँढ़ना, भागना, लड़ना, उत्सुकता, विकर्षण (घृणा), शरणागत होना, संग्रह, और रचना।

(२) संतानोत्पत्ति संबंधी—कामप्रवृत्ति और शिशुरक्षा।

(३) समाज संबंधी—दूसरों की चाह, आत्म प्रकाशन, विनीत भाव और हँसना।

ऊपर बताई हुई सभी प्रवृत्तियाँ बालक को जन्म से प्राप्त रहती

हैं। लेकिन ये एक ही साथ बच्चे के पैदा होते ही अपना-अपना काम नहीं करने लगतीं। वरन् जैसे जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे उसकी प्रवृत्तियाँ भी समयानुकूल अपना काम करती हैं। जब बच्चा पैदा होता है तब क्षुधा की प्रवृत्ति तुरंत ही अपना काम करने लगती है और बच्चा दूध पीने के लिये रोने लगता है। बच्चे के और बड़ा होने पर उसके अंदर उत्सुकता, घृणा, भय, लड़ने की प्रवृत्ति आदि सभी अपना अपना प्रभाव दिखाने लगती हैं। जब बच्चा प्रौढ़ हो जाता है तब काम-प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। तात्पर्य यह कि इन प्रवृत्तियों के जागृत होने का समय होता है। कोई प्रवृत्ति बचपन में अधिक काम करती है और कोई युवावस्था में। इसलिये शिक्षकों तथा माता-पिता को चाहिए कि इस बात से भली भाँति परिचित हों कि बच्चों के अंदर किस किस समय कौन-कौन सी प्रवृत्ति जागृत होती है; क्योंकि बिना इसे समझे वे बच्चे को उचित मार्ग पर नहीं ले जा सकते। शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों की प्रवृत्तियों के कार्यान्वित होने के ठीक समय को जानें और उनका सदुपयोग करें जिससे बच्चे की उन्नति और विकास हो। यदि उचित समय पर इन प्रवृत्तियों का सदुपयोग न किया गया तो ये उपयोग में न आने के कारण शक्तिहीन हो जायँगी। विलियम जेम्स का कहना है कि यदि हम बच्चों की प्रवृत्तियों का समयानुसार प्रयोग न करें तो वे मर जाती हैं। चाहे ऐसी बात न हो, पर निष्प्रयोग के कारण उन प्रवृत्तियों का लोप सा हो जाता है और बालक के विकास में बड़ी क्षति पहुँचती है। उदाहरणार्थ बालकों में उत्सुकता की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है। किसी वस्तु को देखकर वे उसे जानने के लिये उत्सुक हो उठते हैं। ऐसे समय में यदि शिक्षक इस प्रवृत्ति की उन्नति करने की ओर ध्यान न दें तो वह बच्चों के अंदर

अविकसित हो रह जाती है; और इस प्रवृत्ति के नष्ट हो जाने पर उनकी वह शक्ति जिससे वे दुनिया के बारे में ज्ञान प्राप्त करने को आगे बढ़ते हैं, जाती रहती है।

इसी प्रकार बहुत सी मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं जो जीवन में विलंब से दिखाई पड़ती हैं और उनसे संबंध रखने वाली वस्तुओं के बारे में बच्चा प्रौढ़ होने पर जानता है। अतएव जब उचित समय आए तभी बच्चों को नई बातें सिखलानी चाहिए। जिस बात को बतलाने का समय नहीं आता उसे जब शिक्षक बरबस बच्चे के मस्तिष्क में भरना चाहते हैं तब उससे भी हानि होती है। बच्चों के मस्तिष्क का विकास नहीं होता और शिक्षक का प्रयत्न व्यर्थ जाता है। इसलिये जिस समय बच्चे की जो प्रवृत्ति प्रबल हो उसी के अनुसार उसे बातें बतलानी चाहिए। इसके प्रतिकूल यदि बालकों को वे बातें बतलाई जावें जिनको सीखने के लिये उनके अंदर उत्सुकता जागृत नहीं हुई है तो इसका परिणाम यह होगा कि बालकों के हृदय में इन वस्तुओं के प्रति घृणा उत्पन्न हो जायगी और वे उसे फिर कभी नहीं जान सकेंगे। इसी प्रकार कभी-कभी बहुत सी वस्तुओं के विषय में उन्हें गलत बातें बतलाई जाती हैं जिन्हें उनके हृदय से निकालना कठिन हो जाता है। फ्रांस के विद्वान् रूसो ने आदेश किया है कि बालकों को जो बातें कल बतलाई जा सकती हैं उन्हें आज बच्चों को नहीं सिखलाना चाहिए। इस आदेश का तात्पर्य बच्चों को गलत बातें सिखलाने से रोकना है। जो शिक्षक ऊपर कही बातों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करता है और उनपर सदैव ध्यान रखता है वही वास्तव में अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकता है।

अब हम यह विचार करेंगे कि इन प्रवृत्तियों को किस

प्रकार सुचारु रूप से हम बदल सकते हैं और किस प्रकार उनका सदुपयोग कर सकते हैं। ऊपर के वर्णन से हमें यह ज्ञात हो गया कि बच्चे का विकास तथा उसकी उन्नति वास्तव में उसकी प्रवृत्तियों को बदलकर उसके अनुकूल बनाने से ही हो सकती है। हम किस प्रकार उन प्रवृत्तियों का सदुपयोग कर सकते हैं, शिक्षा देने में उनसे किस प्रकार काम ले सकते हैं, इन प्रश्नों पर विचार करने से ज्ञात होगा कि यह तभी संभव है जब हम मूल प्रवृत्तियों को अपने अनुकूल बना लें। इसलिये अब हमें यह देखना चाहिए कि किस आधार पर हम इनके अंदर अनुकूल परिवर्तन ला सकते हैं।

मूल प्रवृत्तियों के परिवर्त्तन के उपाय

दमन—मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन का सामान्य उपाय दमन है। जब किसी मूल प्रवृत्ति को प्रकाशित होने से रोका जाता है तब उसका दमन होता है। कोई भी प्रवृत्ति बार-बार दबने से परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार के परिवर्तन में "सुख-दुःख-विनियमन" का नियम कार्य करता है। इस नियम के अनुसार हमारी प्रवृत्तियों में दो दशाओं में परिवर्तन होता है—प्रसन्नता से और दुःख से। जिन क्रियाओं से हमें सुख और आनंद मिलता है वे हमारे मस्तिष्क में स्थायी रूप से स्थान पा जाती हैं, अर्थात् हम उसी प्रकार की क्रिया करते हैं। इसके प्रतिकूल जिन-जिन क्रियाओं से दुःख मिलता है, उनको हम धीरे-धीरे छोड़ते जाते हैं और अंत में वे लुप्त हो जाती हैं। इस नियम को सुख-दुःख-विनियमन के नाम से पुकारते हैं। हम स्वभावतः बहुत से कार्य बिना सोचे समझे मूल प्रवृत्तियों के आधार पर करते रहते हैं। परंतु उपर्युक्त नियम के अनुसार ये

नैसर्गिक क्रियाएँ बदल जाती हैं और हमारी हर एक क्रिया हमारे भविष्य की उन्नति में सहायक होती है। जब बच्चा कोई गलती करता है तब उसके माँ-बाप उसे डाँटते फटकारते हैं जिससे वह फिर वैसा काम न करे; जब वह कोई अच्छा काम करता है तब उसकी प्रशंसा की जाती है और उसे वैसा काम करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। ऐसा करने का मतलब यही है कि बच्चे की बुरी मनोवृत्ति को दबाया जाय और उसकी अच्छी प्रवृत्ति को पूर्ण रूप से काम करने के लिये प्रोत्साहन दिया जाय। जब कोई लड़का परीक्षा में अच्छा नंबर पाता है या और कोई अच्छा काम करता है तब अध्यापक उसे पारितोषिक देता है और उसकी प्रशंसा करके उसे अच्छा काम करने को प्रोत्साहित करता है। इसके प्रतिकूल यदि वह शरारत करता है और दूसरे लड़कों से लड़ता झगड़ता है अथवा गाली गलौज करता है, तो वह दंड पाता है। इसका ध्येय यही होता है कि हम बच्चे की बुरी प्रवृत्ति को रोकें और उसकी अच्छी प्रवृत्ति की उन्नति करें। इस नियम द्वारा प्रवृत्तियों को अपने अनुकूल बनाया जा सकता है।

प्रवृत्तियों के परिवर्तन करने में दमन से काम लेना बड़ा सरल है, अतएव प्रत्येक शिक्षक उद्दंड बालक को पीट-पीट कर ठीक करने की चेष्टा में विश्वास करता है। पर मनोविज्ञान इस रीति को बालक के भावी जीवन के लिये बड़ा हानिकर प्रमाणित करता है। जो शिक्षक बालकों में भली आदतें डालने के लिये अर्थात् उसकी मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन करने के लिये सदा दमन से ही काम लेता है वह शिक्षा के कार्य के लिये अपने आप को अयोग्य सिद्ध करता है। दमन के द्वारा मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन को रोका भले ही जा सके पर उसको निर्बल नहीं बनाया

जा सकता। यदि शिक्षक दमन के साथ-साथ बालक की संचित शक्ति के उपयोग का दूसरा कोई उपाय काम में नहीं लाता तो वह बालक का लाभ न कर उसकी हानि ही करता है। शिक्षा के कार्य में दमन का हम सर्वथा त्याग तो नहीं कर सकते किंतु अकेले इसी का उपयोग करना अथवा इसका अत्यधिक प्रयोग करना शिक्षक में सहानुभूति के अभाव को दर्शाता है। आधुनिक मनोविज्ञान दमन के दुष्परिणामों की ओर हमारी दृष्टि आकृष्ट कर रहा है। हमारा कर्तव्य है कि हम इसे जानकर ही दमन का प्रयोग करें।

अवरोध—प्रवृत्तियों को एक दूसरे प्रकार से भी बदल सकते हैं। किसी बुरी प्रवृत्ति को कुछ समय तक दबाए रखने से भी वह प्रवृत्ति अपना काम करना बंद कर देती है; जैसे, यदि कोई बालक अधिक खेलाड़ी है और अपना अधिक समय खेल ही में व्यतीत करता है तो यदि उस लड़के को बहुत दिनों तक खेलने न दिया जाय तो उसकी खेलने की प्रवृत्ति और उसकी जगह कोई दूसरी प्रवृत्ति शक्तिमान हो जायगी। परंतु यह बात सदैव ठीक नहीं उतरती। कभी-कभी तो किसी मूल प्रवृत्ति को अधिक दिनों तक रोकने से, उसे काम करने का मौका न देने से भी बड़ी हानि होती है। क्योंकि रोकने से चाहे कोई मनोवृत्ति थोड़े दिनों तक भले ही दबी रहे, पर यह समझना कि वह नष्ट हो जायगी, बिलकुल गलत है। वह अंदर ही अंदर अग्नि की भाँति सुलगती रहती है और जब कभी मौका मिलता है, भड़क उठती है और उग्र रूप धारण कर लेती है। उदाहरणार्थ क्रोध तथा काम की प्रवृत्ति को लीजिए। कभी कभी इन प्रवृत्तियों का अवरोध अनेक दुष्परिणामों का कारण होता है। जब कभी मौका मिलता है, ये भड़क उठती हैं और भारी क्षति पहुँचाती हैं।

विरोध—दूसरा तरीका प्रवृत्ति को बदलने का यह है कि बच्चों के अंदर जिस प्रवृत्ति को बदलना चाहते हैं उसके ठीक प्रतिकूल प्रवृत्ति को उभाड़ देते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि लड़कों के दिल में कभी कभी एक दूसरे के प्रति ईर्षा की प्रवृत्ति काम करती है। यह प्रवृत्ति दबाई जा सकती है। उनके हृदय में भ्रातृ-भाव की प्रवृत्ति को जागृत करके उनके हृदय से ईर्षा की प्रवृत्ति हटाई जा सकती है। जब खेल में लड़के एक साथ खेलते हैं तब उनके दिल से ईर्षा का भाव हट जाता है और अपने दल की विजय की भावना से सब मिलकर खेलते हैं।

मार्गपरिवर्तन—दूसरे प्रकार से भी मूल प्रवृत्तियों में परिवर्त्तन किया जा सकता है। बच्चों के अंदर उपार्जन करने और इकट्ठा करने की प्रवृत्ति रहती है। बच्चे तरह-तरह की वस्तुओं को देखते हैं और उनकी प्रवृत्ति उन्हें प्राप्त कर इकट्ठा करने की होती है। इस प्रवृत्ति को अच्छे काम में लगाया जा सकता है। बच्चों को चित्र, ड्राइंग आदि को इकट्ठा करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। इसी प्रकार बच्चों की इस प्रवृत्ति को ऐसी चीजों की ओर लगा सकते हैं जो स्कूल से संबंध रखती हैं। बच्चों की यह प्रवृत्ति सामाजिक कार्य करने की ओर भी लगाई जा सकती है। स्कूलों में शिक्षकों को चाहिए कि लड़कों में यह प्रवृत्ति उत्तेजित करें जिससे समाज की उन्नति हो।

शोध—मूल प्रवृत्तियों के मार्गपरिवर्तन द्वारा उनके बदलने को शोध भी कहा जाता है। यह शब्द विशेषकर काम प्रवृत्ति के परिवर्तन के संबंध में प्रयुक्त होता है। शोध में मूल प्रवृत्ति का इतना रूपांतर हो जाता है कि उसे पहचानना भी कठिन होता है। काम प्रवृत्ति का शोध साहित्य, संगीत और कला के कार्यों में होता है। बालकों में साहित्य संगीत और कला में प्रेम

बढ़ाना उनकी काम वासना की शक्ति का सदुपयोग करना है।

बालक की मूल प्रवृत्तियों को न तो अनियंत्रित रूप से प्रकाशित होने देना और न उनका एकदम दमन करना ही वांछनीय है। मूल प्रवृत्तियाँ हमारे प्राकृतिक जीवन का आधार हैं। बालक का प्राकृतिक जीवन पाशविक जीवन है। यदि बालक की मूल प्रवृत्तियों में कोई परिवर्तन न किया जाय तो वह निरा पशु ही बना रह जाय। बालक में जितने भी सांस्कृतिक सद्गुण उत्पन्न होते हैं वे सब समाज की देन हैं। उसकी मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन होने पर ही उसकी बुद्धि तथा चरित्र का विकास होता है। इस परिवर्तन के लिये बालक की प्राकृतिक इच्छाओं का रोका जाना आवश्यक होता है। दमन, अवरोध और विरोध इस रोक के उपाय हैं। पर ये अविधायक उपाय हैं। इनके साथ साथ विधायक उपायों को काम में लाना आवश्यक है। अतएव मार्ग परिवर्तन और शोध की आवश्यकता पहले उपायों की अपेक्षा और भी अधिक है। इनके अभाव में पहले उपाय व्यर्थ अथवा हानिकारक हो जाते हैं। कोरा दमन बालक के मन में अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न कर देता है जिसके परिणाम-स्वरूप बालक दुराचारी, बुद्धू, दब्बू, अथवा रोगी हो जाता है।

शिक्षकों को चाहिए कि लड़कों के स्वभाव को सुधारने में दंड का सहारा जितना ही कम हो सके, लें। शिक्षक को दंड के सिवा कोई दूसरा रास्ता पकड़ना चाहिए। उसे ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिए कि बच्चों की बुरी प्रवृत्ति किसी प्रकार जागृत ही न हो। ऐसा वातावरण होने से बुरी प्रवृत्तियों का प्रयोग करने का मौका न मिलेगा और धीरे धीरे वे अपने आप दब जायँगी।

ऊपर के उदाहरणों से हमें यह ज्ञात हो गया कि हम बच्चों की प्रवृत्ति में किस प्रकार परिवर्तन ला सकते हैं। अब अगले परिच्छेद में हम कुछ मनोवृत्तियों को लेकर विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे और देखेंगे कि उनमें किस प्रकार परिवर्तन कर सकते हैं।

सातवाँ परिच्छेद

बालक की मूल प्रवृत्तियों का विकास

पिछले प्रकरण में बालक की मूल प्रवृत्तियों तथा उनमें परिवर्तन करने के उपायों पर प्रकाश डाला गया है। अब हम बालक की विभिन्न मूल प्रवृत्तियों को एक-एक करके लेकर यह दर्शाने की चेष्टा करेंगे कि बालक के जीवन में उनका क्या महत्त्व है, उनमें परिवर्तन कैसे किया जा सकता है तथा उनके दमन के दुष्परिणाम क्या होते हैं। बालक की शिक्षा में उसकी मूल प्रवृत्तियों के विकास का बड़ा महत्त्व है। इसलिये बालक के कल्याण की चिंता करने वाले व्यक्तियों के लिये यह विकासक्रम जानना परमावश्यक है।

उत्सुकता—बालक सदा कुछ न कुछ जानने के लिये उत्सुक रहता है। इसी कारण वह अनेक चीजों को छूता है, इधर-उधर दौड़ता है और तोड़ता-फोड़ता है। जब बालक का भाषा-ज्ञान पर्याप्त हो जाता है तब वह वयस्क लोगों से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछा करता है। बालकों के प्रश्न इतने अधिक होते हैं कि हम उनसे परेशान हो जाते हैं और बहुत से माता पिता तो डाँट डपट कर चुप कर देते हैं। बालक छोटी-छोटी बातों के बारे में प्रश्न करते हैं जिनका उत्तर देने में हमारा मन ऊब जाता है और हम चाहते हैं कि बालक चुप हो जाय। पर ऐसा

करना हमारी भारी भूल है। बालक का ज्ञान अत्यंत परिमित होता है और इस ज्ञान की वृद्धि बालक की उत्सुकता ही पर निर्भर है। जब हम बालक की उत्सुकता का बरबस दमन कर देते हैं, तब उसके ज्ञान की वृद्धि को रोक देते हैं। अतएव उसके मानसिक विकास का अवरोध हो जाता है। अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालकों की उत्सुकता का दमन न करके उसकी उचित प्रकार से वृद्धि करें और योग्य मार्ग में लगाएँ। बड़े-बड़े नए आविष्कारों की जड़ बालक की इसी उत्सुकता में होती है।

उत्सुकता सदा नई बात के जानने के लिये होती है। पर यदि कोई विषय इतना नया हो कि बालक उसके संबंध में कुछ भी न जाने तो ऐसी स्थिति में उत्सुकता प्रकट न होगी। उत्सुकता तभी अपना कार्य करती है जब किसी विषय में परिचित तथा अपरिचित दोनों प्रकार के अंश संमिलित हों। बालक की शिक्षा में हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए। बालक उसी बात को याद कर सकता है जिसके विषय में उसे जानने की उत्सुकता है। यह उत्सुकता तभी हो सकती है जब बालक उस विषय के बारे में अथवा उससे मिलते-जुलते विषय के बारे में कुछ जानता हो। अतः किसी नई बात को सिखाने के समय हमें देखना चाहिए कि वह बात बालक के लिये एक दम नई तो नहीं है। दूसरे हमें यह भी देखना पड़ता है कि उसमें कुछ नयापन है अथवा नहीं। जब बालक किसी विषय के बारे में साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उससे उसका मन ऊब जाता है। ऐसी अवस्था में उसके ज्ञान की वृद्धि संभव नहीं। इसलिये बालक को शिक्षा देते समय यह आवश्यक है कि हम अपने विषय में कुछ न कुछ नयापन लाएँ।

बालक की उत्सुकता चलने फिरने वाली और परिवर्तनशील

वस्तुओं से प्रभावित होती है। जो चीजें चमक-दमक वाली होती हैं, जिनके आकार और स्थिति में परिवर्तन होता रहता है, वे सब बालक का ध्यान आकर्षित करती हैं। अतएव यह आवश्यक है कि हम बालक को शिक्षा देते समय नई-नई तस्वीरें दिखाएँ, नए चित्र खींचें और उन्हें कुछ न कुछ नए-नए काम करने को दें। इसी सिद्धांत के अनुसार बालकों को मैजिक लालटेन और सिनेमा फिल्म के द्वारा शिक्षा देना अधिक लाभप्रद है।

शिक्षकों और अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालकों की उत्सुकता की सदा पुष्टि करें। परंतु इस कथन का यह अर्थ नहीं कि हमें बालक को सदा ऐसी ही बातें बताते रहना चाहिए जिससे इंद्रियज्ञान की भूख तृप्त हो। हमें धीरे-धीरे बालक की बौद्धिक उत्सुकता बढ़ाना है। जब हम बालक को किसी नए स्थान में ले जाते हैं तब हमारा कर्तव्य है कि वहाँ पर होनेवाली किसी भी नई बात के बारे में जानने की उत्सुकता बालक के मन में पैदा करें; हरएक साधारण से साधारण घटना बालक इस दृष्टि से देखे कि उसका प्रकृति में क्या स्थान है; उसके कारणों को जानने की कोशिश करे। अपनी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में हम बालकों का प्रायः शब्दज्ञान ही बढ़ाते रहते हैं, उनकी स्मरणशक्ति पर ही अधिक जोर पड़ता है। इससे उनकी उत्सुकता प्रायः मर सी जाती है। जिन बालकों की उत्सुकता मर गई है वे प्रतिभाहीन हो जाते हैं।

उत्सुकता के दमन का एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि बालक बड़े होने पर जिन चीजों के विषय में उसे जानना उचित नहीं ऐसी बातें जानने की चेष्टा करता है। दूसरे के पत्र में क्या लिखा है, अमुक व्यक्ति अकेला बैठा कमरे में क्या कर

रहा है, दो व्यक्ति धीरे-धीरे आपस में कौन सी बातें करते हैं— ऐसी सब अनधिकार चेष्टाएँ बालकपन की उत्सुकता के दमन का परिणाम हैं। चित्तविश्लेषण विज्ञान के अनुसार काम-वासना संबंधी अनेक कुचेष्टाओं वा दुराचारों का कारण दमन की हुई उत्सुकता से उत्पन्न भावना-ग्रंथि है।

उपार्जन-प्रवृत्ति

उपार्जन-प्रवृत्ति का स्वरूप—यह प्रवृत्ति बच्चों में अधिक पाई जाती है। बच्चा कोई वस्तु देखता है तो उसे अपनाना चाहता है। एक अबोध छोटे बच्चे का उदाहरण लीजिए। छोटे बच्चे के हाथ में कोई वस्तु अथवा खिलौना दीजिए, वह फौरन उसे उठा लेता है। उसकी उपार्जन की प्रवृत्ति उसे ऐसा करने को कहती है। यदि कोई उससे उस वस्तु को बरबस ले ले तो वह रोने लगेगा। जब बालक ७–८ वर्ष का होता है तब वह अनेक प्रकार की छोटी-छोटी चीजों को इकट्ठा कर लेता है। यह प्रवृत्ति किशोरावस्था के प्राप्त होने तक बड़े वेग के साथ बालक के जीवन में अपना काम करती है। एक बार लेखक को अपने छोटे भाई की संदूक देखने का मौका पड़ा। उसमें सैकड़ों चीजें ऐसी थीं जो बिलकुल व्यर्थ थीं। उस संदूक में एक टूटा चाकू, एक कतरनी, एक तसवीर, कुछ पीतल के छल्ले, दो छोटी-छोटी तालियाँ, दस बारह कलमें, पाँच सात पेंसिलें, दो छोटे-छोटे ऐनक, पाँच छोटी-छोटी डब्बियाँ इत्यादि सामग्री का भंडार मिला। जब यह प्रश्न पूछा गया कि उसने यह सब क्यों इकट्ठा किया है तब उसका कुछ भी उत्तर न मिला। बालक अपने खेल की बहुत सी सामग्री इस प्रकार इकट्ठा करता है और उनका इकट्ठा करना ही उसका खेल हो जाता है।

बालक के जीवन-विकास में उपयोग—हमें बालक की इस प्रवृत्ति का दमन न करना चाहिए। उसे सन्मार्ग में लगाना चाहिए। यह प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल है कि छोटा बालक कंकड़, पत्थर, लोहा, पीतल, काँच, सीसा आदि की चीजों को इकट्ठा न करे। जिस बालक की इस प्रकार की प्रवृत्ति का अवरोध नहीं होता वह मनोविज्ञान के नियम के अनुसार कुछ काल के बाद जीवन की उपयोगी वस्तुओं को एकत्रित करने लगता है।

अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालकों से ऐसी चीजें एकत्र कराएँ जो उनका सांसारिक ज्ञान बढ़ाने वाली हों, जिनके द्वारा वे संसार में होनेवाली अनेक प्रकार की घटनाओं से परिचित हों। बालचर संघ इस ओर बड़ा मौलिक काम कर रहा है। बालकों द्वारा ऐसी चीजों को एकत्रित कराया जाता है जिनके कारण बालकों का वनस्पतिशास्त्र, भूगर्भ विद्या, भूगोल और इतिहास संबंधी ज्ञान बढ़ता है। बालकों द्वारा भिन्न-भिन्न देशों के डाक के टिकट इकट्ठा करवाना उनकी संचय-प्रवृत्ति का सदुपयोग करना है।

उपार्जन-प्रवृत्ति में परिवर्तन—जैसे-जैसे बालकों की आयु और अनुभव बढ़ता है वैसे-वैसे इस प्रवृत्ति का स्वरूप परिवर्तित होता है, यह मनोविकास का साधारण नियम है। यदि बालक योग्य वातावरण में रखा गया हो तो वह ऐसी चीजों को ही इकट्ठा करने को उद्यत न होगा जो उसके वैयक्तिक स्वार्थ की साधक हों; वह फिर समाज की स्वार्थसाधक वस्तुओं को भी इकट्ठा करने लगेगा। अपनी एकत्र की हुई वस्तुओं को अपने पास न रखकर उन्हें स्कूल के संग्रहालयों में रखने से उसे आनंद आता है।

बालक की रुचि में धीरे धीरे परिवर्तन होता है। इस रुचि-

परिवर्तन के साथ-साथ एकत्रित किए जाने वाले पदार्थ बदलते हैं। जिस बालक की रुचि धन की ओर जाती है वह रुपया पैसा इकट्ठा करने लगता है। जिसकी विद्या की ओर रुचि जाती है वह अच्छी-अच्छी पुस्तकों को इकट्ठा करता है और उन्हें भली प्रकार अपने पास रखता है। जिस बालक में देशभक्ति जागृत होती है वह देश के नेताओं की तस्वीरें एकत्रित करता है।

दमन के दुष्परिणाम—जिस बालक की संचय-प्रवृत्ति का सदुपयोग न होकर दमन होता है वह अपनी जिम्मेदारी में छोड़ी वस्तुओं को भली प्रकार नहीं रख पाता। किसी-किसी समय दमन से अवांछनीय वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कृपणता बालपन की दमन की हुई संचय-प्रवृत्ति का परिणाम है। लार्ड लिटन अपनी 'न्यू ट्रेजर' नाम की पुस्तक में लिखते हैं कि, हम बालकों का उद्धार उनकी छोटी-छोटी वासनाओं का दमन करके नहीं कर सकते, वरन् उनकी समुचित तृप्ति से ही उसके जीवन का विकास होता है। जिस प्रवृत्ति का बाल्य-काल में दमन हो जाता है उससे संबंधित वासनाएँ अपनी तृप्ति न पाकर जीवन के विकास का अवरोध कर देती हैं। बालक के भावी जीवन में इस दमन का भारी दुष्परिणाम होता है। जिस बालक ने बालपन में बालक बनने का मजा नहीं उठाया वह प्रौढ़ावस्था में भी जीवन को भाररूप ही ढोता है।

रचनात्मक प्रवृत्ति

रचनात्मक प्रवृत्ति का स्वरूप—बच्चों के अंदर जिस प्रकार वस्तुओं को तोड़ने फोड़ने, उन्हें नष्ट कर देने की प्रवृत्ति रहती है उसी प्रकार उन वस्तुओं से नई वस्तु बनाने की भी प्रवृत्ति होती है। जब हम छोटे बच्चे को कोई खिलौना देते हैं

नय वह उसे फोड़ना चाहता है। वह ऐसा करके यह जानना चाहता है कि उसके अंदर क्या है। साथ ही साथ उसकी प्रवृत्ति उस खिलौने को दूसरा रूप देने की होती है। कोई पुस्तक ही एक बच्चे को दे दीजिए। बच्चा उस पुस्तक को तोड़ मरोड़ कर दूसरे रूप में कर देगा। बच्चे की पहली प्रवृत्ति तो वस्तु को हाथ में लेने की होती है। इस प्रवृत्ति को नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि वस्तुओं को पकड़ने उठाने से बच्चे को अपने अवयवों पर अधिकार प्राप्त होता है और साथ ही साथ बच्चे की जानकारी भी बढ़ती है।

बच्चे की रचनात्मक प्रवृत्ति उसे वस्तुओं में नवीनता लाने को प्रेरित करती है; परंतु यह नवीनता लाने का परिणाम अच्छा और बुरा दोनों हो सकता है। वस्तुओं को तोड़ने फोड़ने की प्रवृत्ति ही रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रारंभिक रूप है। इस प्रवृत्ति से अच्छा और बुरा काम लेना अभिभावकों पर निर्भर है। अभिभावक को चाहिए कि बच्चों को तरह-तरह की चीजें जैसे कागज से जहाज, डेरा, खेमा, घर आदि बनाने के लिये उत्साहित करें। इसमें बच्चों को आनंद मिलता है। साथ ही साथ बहुत से जीवनोपयोगी काम हो जाते हैं जो उनके जीवन को सुखमय बनाने में सहायक होते हैं। छोटे-छोटे बच्चे जब स्कूल में पढ़ने जाते हैं, कागज की नाव, टोपी, बंदूक, माला, घर आदि बड़े आनंद के साथ बनाते हैं। कभी दो-चार लड़के पढ़ाई का घंटा छोड़कर बाहर दूसरी जगह बैठकर यही काम किया करते हैं।

रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रयोग—इस प्रवृत्ति को किसी भी प्रकार न रोकना चाहिए। माता-पिता को चाहिए कि बालकों के लिये अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार खेल

की ऐसी सामग्री एकत्र करें जिससे उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति का उचित उपयोग होता रहे। इस बात में धनी लोगों के बालक गरीब लोगों के बालकों से अवश्य ही भाग्यवान् कहे जा सकते हैं। गरीब लोगों के बालकों के पास न तो इतनी सामग्री होती है जिससे उन बच्चों की रचनात्मक प्रवृत्ति का सदुपयोग कराया जा सके, और न उन्हें इतना अवसर रहता है कि अपने बालकों को समय-समय पर उनकी रचना में सहायता दें। परंतु गरीब लोगों के बालकों को भी यदि खिलौने बनाने का सुभीता है तो इससे हमें उनको वंचित न करना चाहिए। हमारे प्रारंभिक शिक्षा के स्कूलों में यदि मिट्टी के खिलौनों द्वारा शिक्षा दी जाय तो बालकों का बड़ा उपकार हो।

आत्म-प्रदर्शन

आत्म-प्रदर्शन—जब बच्चा कुछ बड़ा होता है और अपने शारीरिक तथा मानसिक विकास का अनुभव करने लगता है तब उसके अंदर यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। इस प्रवृत्ति से बालक अपनी अनेक प्रकार की उन्नति करता है। सम्मान पाने की इच्छा किस व्यक्ति में नहीं होती? यह इच्छा आत्म-प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति का एक परिवर्तित स्वरूप है, अथवा उसका कार्य है। जिस व्यक्ति में अपने मान की अभिलाषा नहीं रहती वह संसार में बड़े-बड़े काम करने में प्रायः समर्थ नहीं होता। इसी प्रवृत्ति के कारण बालक अपने वर्ग में किसी न किसी बात में प्रथम होने का प्रयत्न करता है। कोई बालक विद्योपार्जन में और कोई खेल-कूद में प्रथम होना

चाहता है जिससे वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके। जब इस प्रवृत्ति का उचित उपयोग नहीं होता तब वह विकृत रूप में समाज में अनुपयोगी या अहितकर व्यवहारों में प्रदर्शित होने लगती है। बालक कितनी ही बार झूठ इसलिये बोलता है कि वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके। इसी प्रकार नटखट बालक अपने नटखटपन द्वारा समाज का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। जब बालक अपने अच्छे कार्यों से बड़े-बूढ़ों और साथियों का ध्यान नहीं आकर्षित कर पाता तब ऐसा आचरण करता है जिससे वे उससे तंग हो जायँ। वह किसी न किसी प्रकार से अपने को प्रसिद्ध बनाना चाहता है। कितने युवकों में हम देखते हैं कि विचित्र विचित्र प्रकार की पोशाक पहनने की प्रवृत्ति होती है। उनके अनेक व्यवहार ऐसे होते हैं जो दूसरों को उनकी ओर आकर्षित करते हैं। लोग उनकी निंदा करें, इसकी उन्हें कुछ परवाह नहीं। उन्हें प्रसिद्ध होना चाहिए। यह बालक की आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के दमन का दुष्परिणाम या उसका विकृत रूप है।

किसी किसी समय इस प्रवृत्ति का दमन बालक को तेजहीन और निरुत्साह बना देता है। जिस बालक की आत्म-प्रदर्शन की भावना का पूरी तरह से दमन हो जाता है उसका व्यक्तित्व सुसंगठित और बलिष्ठ नहीं होता। उसके जीवन में शिथिलता और शक्तिहीनता रहती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अभिभावकों को ध्यान-पूर्वक बच्चों की इस प्रवृत्ति का अध्ययन करना चाहिए और उनकी आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को अच्छे कार्यों की ओर लगाना चाहिए। बच्चे जब कोई अच्छा काम करें तब उनकी समुचित

प्रशंसा करनी चाहिए। स्कूलों में अध्यापकों को चाहिए कि लड़कों को उनके काम के लिये नंबर दें। ऐसा करने से तीव्र बुद्धि वाले लड़कों की यह प्रवृत्ति हो जायगी कि वे अधिक नंबर पाएँ।

द्वंद्व अथवा लड़ने की प्रवृत्ति

द्वंद्व वा लड़ने की प्रवृत्ति का स्वरूप—लड़ने की प्रवृत्ति बच्चे में प्रायः उस समय आती है जब उसकी किसी उग्र प्रवृत्ति को रोक दिया जाता है। जब उसकी ऐसी प्रवृत्ति रोक दी जाती है तब वह ऐसा काम करने लगता है जो उसे नहीं करना चाहिए। ऐसी दशा में प्रायः शिक्षक बालकों को दबाते और उन्हें डाँटते हैं। पर हर समय ऐसा करना वांछनीय नहीं; क्योंकि ऐसा करने से बच्चों की आत्मा कमजोर हो जाती है। उनके लड़ने की प्रवृत्ति को सामाजिक कार्यों के करने में लगाना चाहिए, जैसे कमजोर बालकों की ओर से मजबूत बालकों से लड़ना। ऐसा करने से लड़ने की प्रवृत्ति को काम करने का भी मौका मिलता है और साथ ही साथ दूसरों की सहायता करने का भी।

द्वंद्व-प्रवृत्ति की मानव-जीवन में उपयोगिता—जिस व्यक्ति में यह प्रवृत्ति बिलकुल निर्बल होती है, वह सब प्रकार से बली होते हुए भी दूसरों से संघर्ष करने में डरता है, और जब संघर्ष का समय आता है तब उसके व्यवहार में कायरता आ जाती है। जिस राष्ट्र में लड़ाकू जाति की कमी होती है वह अपनी स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकता। दूसरी जातियाँ उसके ऊपर अपना आधिपत्य जमा लेती हैं। लड़ाकू लोगों से ही देश की रक्षा होती है। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक में लड़ाकू लोगों की उपयोगिता बताते हुए कहा है कि इन लोगों का

वही काम है जो भेड़ों के रक्षक कुत्तों का। कुत्ते स्यार, भेड़िए इत्यादि जानवरों से भेड़ों की रक्षा करते हैं। वे यह काम उसी समय तक कर पाते हैं जब तक उनमें लड़ने का सामर्थ्य और उसकी तीव्र प्रवृत्ति रहती है। जिन कुत्तों की लड़ने की प्रवृत्ति निर्बल हो जाती है वे अपने मालिक की भेड़ों की रक्षा नहीं कर पाते। सैनिकों में अपने नियामकों के प्रति वैसा ही भाव रहना चाहिए जैसा कि कुत्ते का अपने स्वामी के प्रति रहता है। यहाँ प्लेटो ने जनसमुदाय की उपमा भेड़ों से दी है। सैनिकों की उपमा उसने रक्षा करने वाले कुत्तों से और नियामकों की भेड़ों के स्वामी से दी है। उसने आगे चलकर यह भी बताया है कि इस प्रवृत्ति में जो लोग प्रवीण हैं वे यदि नियामक का कहना न मानेंगे तो वे उपयोगी कुत्तों का काम न करके भेड़ों को खाने वाले जानवर बन जायँगे। जो बात समाज के विषय में लागू है वही व्यक्तिगत जीवन में भी ठीक उतरती है। जब हमारी द्वंद्वबुद्धि विचारशक्ति से नियमित नहीं रहती तब वह मनुष्य को उन्नति की ओर न ले जा कर उसे अधोगति में ले जाती है। ऐसा मनुष्य समाज में अनेक प्रकार के विध्वंस के काम करने लगता है और अंत में अपना विनाश कर लेता है।

अभिभावकों और शिक्षकों का कर्तव्य—हमारा कर्तव्य है कि बालक की द्वंद्वप्रवृत्ति को कमजोर न करें वरन् उसके द्वारा बालक के जीवन के विकास का काम कराएँ। जब कोई कठिनाई बालक के सामने आए तब हमें उसकी द्वंद्वबुद्धि को उत्तेजित करना चाहिए। बालक को अपने आपको निर्बल मान-कर कदापि न बैठा रहने दिया जाय, बल्कि उसे कठिनाइयों का बहादुरी के साथ सामना करने के लिये प्रोत्साहित किया जाय।

उसकी यह बुद्धि सदा दृढ़ रहे कि मैं समस्त कठिनाइयों पर निश्चय ही विजय पाऊँगा। इस प्रकार जब इस द्वंद्वप्रवृत्ति का सदुपयोग किया जाता है तब बालक बड़े महत्व के कार्य देश और समाज के लिये करता है और अपना जीवन गौरवान्वित बनाता है।

विनय की प्रवृत्ति

विनय की प्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति के ठीक प्रतिकूल है। इस प्रवृत्ति के कारण कोई भी व्यक्ति अपने बड़ों के सामने झुक जाता है और उनकी आज्ञा का पालन करता है। बच्चों के विकास के लिये यह प्रवृत्ति भी लाभदायक है। इस प्रवृत्ति द्वारा बच्चा बड़ों का आज्ञाकारी होता है। वह अनेक प्रकार के शिष्टाचार सीखता है।

बालक की शिक्षा में उसका उपयोग—शिक्षक बच्चों में इस प्रवृत्ति को जागृत करके अपनी कक्षा के शिष्टाचार को बनाए रख सकता है और बच्चे भी इसी प्रवृत्ति द्वारा अध्यापकों के सिखाए हुए सबक को याद रखते हैं। यह प्रवृत्ति वयस्क लोगों के संपर्क में आने से जागृत होती है। बालक उन्हीं लोगों के प्रति विनीत भाव रखता है जो उसके प्रति प्रेम करते हैं और जिनमें उसकी श्रद्धा है। जो अभिभावक बालकों का अनुचित रूप से दमन करते हैं, जो उनकी छोटी छोटी माँगों को पूरा करने की चेष्टा नहीं करते, उनके प्रति बालक का विनीत भाव जाता रहता है। बालक का विनीत भाव उसी शिक्षक के प्रति रहता है जो बालक के साथ सहानुभूति रखता है और जिसका आचरण सुंदर है। जो शिक्षक परिश्रमी नहीं है,

जिसका आचरण संदेहजनक है और जो कटुभाषी है उसके प्रति बालकों का विनीत भाव होना कदापि संभव नहीं। शिक्षक को मधुरभाषी, न्यायप्रिय, परिश्रमी और गंभीर होना चाहिए। बालकों से अतिसंपर्क रखने से भी शिक्षक के प्रति उनका विनीत भाव नष्ट हो जाता है।

इस भाव के नष्ट होने पर शिक्षा का कार्य असंभव हो जाता है। बालकों में उद्दंडता आ जाती है। अतएव शिक्षक को चाहिए कि अपने हरएक कार्य की विवेचना करता रहे।

कामप्रवृत्ति

कामप्रवृत्ति की व्यापकता—बच्चों की कामप्रवृत्ति का अध्ययन बड़ा ही कठिन और आवश्यक है। अभिभावकों को बच्चों की कामप्रवृत्ति का अध्ययन ध्यानपूर्वक करना चाहिए और इस प्रवृत्ति के दुरुपयोगों से बालकों को सदा बचाना चाहिए। प्राणिमात्र की यह एक प्रबल मूलप्रवृत्ति है जो बच्चों में बहुत पहले से जागृत हो जाती है। यह कई अवस्थाओं में अपना प्रभाव दिखाती है। चित्त-विश्लेषकों के अनुसार कामप्रवृत्ति और प्रेम में कोई भेद नहीं। उनकी चेष्टाओं में भले ही कुछ भेद रहे पर उनसे संबंधित संवेगों में कोई अंतर नहीं होता। दूसरों की ओर आकर्षित होना इस प्रवृत्ति का मूल स्वरूप है।

कामप्रवृत्ति की चार अवस्थाएँ—पहली अवस्था में बालक अपने आपको ही ऐसा प्यार करता है जैसे कि किसी दूसरे व्यक्ति को। इसे अँगरेजी में नार्सिस अवस्था कहते हैं। नार्सिस नामक ग्रीक बालक अपनी परछाईं पानी में देखकर उसके प्रेम में मुग्ध हो गया और उसी प्रेम में उसने प्राण खो दिया। कामप्रवृत्ति की यह स्थिति शिशु-अवस्था में रहती है।

कामप्रवृत्ति की दूसरी अवस्था अपने संबंधियों से प्रेम करना है। इस अवस्था में बालक उन संबंधियों से प्रेम करता है जिनपर वह अपने पालनपोषण और जीविका के लिये निर्भर रहता है। फ्रायड महाशय का तो यह भी कथन है कि बालक का प्रेम अपनी माता के प्रति ऐसा ही होता है जैसा कि अपनी प्रेमिका के प्रति। इस कथन की सत्यता में बहुत से मनोवैज्ञानिकों को विश्वास नहीं। विशेषकर मैगडगल महाशय ने तो इस मत का पूरी तरह से खंडन किया है। यह स्थिति दश वर्ष के नीचे के बालकों में रहती है।

कामप्रवृत्ति के विकास की तीसरी अवस्था स्ववर्गीय बालकों के प्रति प्रेम करना है। बालक अपने किसी साथी के प्रेम में इतना मुग्ध हो जाता है कि वह खाना-पीना, घर-द्वार सब भूल जाता है। जब तक उसे अपना साथी नहीं मिलता, वह बेचैन ही रहता है। बालकों में धनी अमीर, जाति बेजाति की भावना नहीं रहती। अतएव बालक जो भी साथी चुन लेता है वह उसे प्राणप्रिय हो जाता है। यह अवस्था किशोरावस्था के पूर्व तथा कुछ काल तक किशोरावस्था में भी रहती है।

कामप्रवृत्ति की चौथी अवस्था में बालक स्ववर्गीय बालकों से प्रेम न करके भिन्न वर्ग के बालक से प्रेम करता है, अर्थात् लड़के का विशेष आकर्षण लड़की की ओर और लड़की का लड़के की ओर होता है। इस अवस्था में कामप्रवृत्ति अपनी पूर्णता पर आती है। उसके साथ-साथ बालक के जीवन में अनेक प्रकार के व्यवहारों में नए-नए परिवर्तन होते हैं।

ये चारों अवस्थाएँ बालक के जीवन के विकास के लिये आवश्यक हैं। कोई भी बालक पहली अवस्था पार किए बिना दूसरी में नहीं जा सकता। जिस बालक के जीवन में चारों

अवस्थाएँ अपने-अपने समय पर नहीं आतीं उसका जीवन अधूरा रह जाता है। साथ ही साथ यह भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि किसी अवस्था का अपने समय के बाद तक रहना बालक के व्यक्तित्व के विकास में अवरोध करता है। यह एक प्रकार की असाधारण अवस्था है और बालक को ऐसी अवस्थाओं से निकालना चाहिए।

अभिभवाकों का कर्तव्य—अभिभावकों का कर्तव्य है कि बालकों के विषय में किशोरावस्था के आते समय अधिक सचेत रहें। इस समय बालक कई एक ऐसी कुचेष्टाएँ कर देता है जिनसे उसका भावी जीवन दुःखमय हो जाता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जो माता-पिता अपने बालकों को काम-भावना की कुचेष्टाओं से बचाने के लिये उनके सब साथियों से वंचित कर देते हैं वे उनका कल्याण न कर उनकी भारी क्षति करते हैं। बालक अपने साथियों से अनेक प्रकार की भलाइयाँ सीखता है और उनके प्रेम के वातावरण में रहकर ही उसका जीवन विकसित होता है। अतएव अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे बालकों को उनके साथियों से वंचित न कर उनकी समुचित देखरेख करें; बालक की कामप्रवृत्ति की शक्ति को संगीत, चित्रकारी, नाटक, इत्यादि कलामय व्यवसायों द्वारा उच्च कार्य में लगा दें। इसके विषय में विशेष रूप से आगे किशोरावस्था वाले परिच्छेद में कहेंगे। यहाँ हम इतना ही कह कर समाप्त करेंगे कि जिस तरह से हम दूसरी प्रवृत्तियों को दबा कर बालक के जीवन को विकसित नहीं बना सकते, उसी तरह बालक की कामप्रवृत्ति का दमन भी उसे उसके विकास की ओर नहीं ले जाता। इस प्रवृत्ति का कठोरता से दमन न करके उससे संबंधित शक्ति को सन्मार्ग में लगाना चाहिए।

आठवाँ परिच्छेद

अनुकरण

अनुकरण का स्वरूप—दूसरों की नकल करना हमारे स्वभाव का एक अंग है। छोटे बच्चे और वयस्क, सभी लोग किसी न किसी रूप में दूसरों की नकल करते रहते हैं। छोटे बच्चे में तो नकल करने की प्रवृत्ति इतनी अधिक होती है कि उसका अधिकांश समय दूसरों की नकल करने में ही व्यतीत होता है। लड़के का बोलना, चलना, खेलना, लिखना, पढ़ना इत्यादि सब बड़ों की नकल करने की चेष्टा मात्र होते हैं। नकल करने की प्रवृत्ति प्राणियों की एक मूलप्रवृत्ति है। यह पशु-पक्षियों में भी वैसे ही पाई जाती है जैसे मनुष्यों में। पशु-पक्षियों के बच्चे इसी के द्वारा अपनी जीव-रक्षा के कार्य सीखते हैं। एक चिड़िया का बच्चा अपनी माँ की नकल करके उड़ना, दाना चुगना, घातक प्राणियों से बचना इत्यादि जीवन-रक्षा के कार्य सीखता है।

अनुकरण का मनुष्य के जीवन में स्थान—नकल करना प्रायः बुरा समझा जाता है। पर वास्तव में मनुष्य के जीवन-विकास में इसका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। विलियम जेम्स लिखते हैं—

"नकल करना और आविष्कार, ये मानव जाति के दो पैर हैं जिन पर वह सदा चलती आई है।" वास्तव में बात ऐसी ही है। समाज के पुराने अनुभव का लाभ हम अनुकरण के द्वारा ही उठाते हैं। पुरानी संस्कृति की रक्षा तथा नई बातों का प्रचार अनुकरण के द्वारा ही होता है। समाज के रीतिरिवाजों में उसका पुराना अनुभव संचित रहता है। हम उनके अनुसार चलकर उस अनुभव से लाभ उठाते हैं। इसी तरह यदि कोई प्रतिभा-शाली व्यक्ति पुरानी बातों में सुधार करता है तो उसका भी प्रचार नकल के द्वारा ही समाज में होता है। दूसरों का अनुकरण कोई बुरी बात नहीं है। योग्य व्यक्तियों का अनु-करण करके ही दूसरे लोग उन्नतिशाली होते हैं। जापान के लोगों ने यूरोपवालों का अनुकरण करके अपने आपको शक्ति-शाली बना लिया। अब जापान की गिनती प्रथम वर्ग के राष्ट्रों में होती है। होनहार लोग इस प्रकार दूसरों के सद्-गुणों से लाभ उठाते हैं।

मनुष्य की हानि अविचार से होती है, न कि अनुकरण से। मूर्ख लोग दूसरों का अनुकरण उनकी बुराइयों में करते हैं। वे बिना समझे बूझे अपने आपको दूसरों के जैसा बनाने की कोशिश करते हैं और इस तरह दूसरों की बुराइयों को ग्रहण कर लेते हैं। संसार में नशीली चीजों का प्रचार इसी तरह दूसरों की देखा देखी हुआ तथा अनेक प्रकार के फैशनों और व्यसनों का प्रचार इसी तरह होता है।

जीवन का विकास नई बातों के सीखने से ही होता है। मनुष्य दो प्रकार से नई बातें सीखता है। एक तो अपने अनुभव से, और दूसरे अपने से अधिक अनुभवी, विद्वान् लोगों के अनुकरण से। जो व्यक्ति बुद्धि में अथवा

सांसारी अनुभव में दूसरों से कम है उसे दूसरों का अनुकरण से करने अवश्य लाभ होता है। बालक को न तो सांसारी अनुभव रहता है और न उसकी बुद्धि विकसित रहती है। अतएव उसकी नकल करने की तीव्र प्रवृत्ति उसके जीवन के लिये बड़ी लाभदायक है। बालक बोलना, चलना, लिखना और पढ़ना दूसरों के अनुकरण से ही सीखता है। यदि दूसरों के अनुकरण की प्रवृत्ति का बालक में अभाव हो तो माँ-उसे कुछ भी न सिखा सके। बालक अपनी स्फूर्ति से ही दूसरों का अनुकरण करता है। जब बालक दो तीन साल का होता है तब दूसरों का अनुकरण करना उसका खेल बन जाता है। माँ को रोटी बनाते देख छोटी बालिका भी अपने खेलों में रोटी बनाती है। रास्ते में सिपाही को जाते देख बालकगण सिपाही का खेल खेलने लगते हैं। रेल के ड्राइवर को गाड़ी चलाते देखकर बालक किसी चीज को भी रेल मानकर ड्राइवर का काम करने लगता है। दूसरों को घोड़े पर सवार होकर जाते देख, एक लड़ी को घोड़ा मानकर उसपर सवार होकर वह भागने लगता है। इसी तरह मोटर चलाना, नाव खेना आदि क्रियाएँ वह खेल में काल्पनिक सामग्री की सहायता से किया करता है। जो भी घटना और क्रिया बालक के मन को प्रभावित करती है वह उसके खेल के अनेक कार्यों में प्रकाशित हो जाती है। इस प्रकार बालक का मन संसार के अनेक कार्यों को करने के लिये तैयार हो जाता है।

अनुकरण के प्रकार—नकल करने का प्रयास दो प्रकार का होता है, एक तो सहज या स्फूर्तिपूर्ण और दूसरा विचारजन्य।

स्फूर्तिपूर्ण नकल—इसका कार्य हम बालक के जीवन में अधिक देखते हैं। पर युवक और प्रौढ़ अवस्था वाले लोगों

के कार्यों में भी इसकी कमी नहीं रहती। दूसरों का आचार-विचार देखकर ही हम अपना आचार-विचार बनाते हैं। दूसरे जिस प्रकार के कपड़े पहिनते हैं वैसे ही हम भी पहिनने लगते हैं। किसी फैशन का प्रचार इसी तरह से होता है। कभी कभी हम लोग अपनी सहज अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण एक प्रवाह में बह जाते हैं। बुराइयों का प्रचार संसार में इसी प्रकार होता है।

विचारपूर्वक अनुकरण—वह है जिसमें अनुकरण करने वाला व्यक्ति एक धाराप्रवाह में नहीं बहता वरन् वह अपनी अनुकरण करने की क्रिया के औचित्य पर विचार कर लेता है। अपना लक्ष्य प्राप्त करने के हेतु मनुष्य दूसरों का अनुकरण करता है। बालक में इस प्रकार का अनुकरण करने की योग्यता कम रहती है। इसका कारण उसकी विचारशक्ति की कमी और मन की चंचलता है। बालक को भले बुरे का ज्ञान भी कम रहता है, अतएव उसका जीवन प्रायः सहज अनुकरण द्वारा ही संचालित होता है।

अनुकरण की गति के नियम—अनुकरण की गति के तीन नियम बड़े महत्व के हैं जिन्हें हरएक शिक्षक को ध्यान में रखना चाहिए। पहला नियम यह है कि अनुकरण का प्रवाह समाज में ऊपर से नीचे की ओर आता है। जो व्यक्ति बल, विद्या और आयु में दूसरों से बड़े होते हैं उनका अनुकरण उनसे छोटे लोग किया करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता ने इस प्रवृत्ति को इस श्लोक में दर्शाया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥ ३।२१

अर्थात् जो-जो काम बड़े लोग करते हैं, छोटे लोग भी उसी

प्रकार चलने लगते हैं, बड़े जो प्रमाण उपस्थित करते हैं उसी का सब लोग अनुसरण करते हैं। प्रौढ़ावस्था वालों की नकल बालक करते हैं, धनी लोगों की गरीब, विद्वानों की साधारण बुद्धि वाले और शासकों की नकल शासित व्यक्ति करते हैं। किसी भी देश में नए भावों या नई चाल का प्रचार इसी प्रकार होता है। भारतवर्ष में अँगरेजी वस्तुओं का प्रचार इसी प्रकार हुआ और स्वदेशी का प्रचार भी इसी प्रकार हो रहा है।

बालक अपने शिक्षक की कई बातों में नकल किया करता है। शिक्षक बालक से सभी बातों में अधिक बड़ा होता है, अतएव उसकी हरएक बात की नकल बालकगण करते हैं। जैसी वस्तुओं को वह काम में लाता है, जैसी पोशाक वह पहिनता है, बालक भी उसी का अनुकरण करते हैं। यदि उसकी खेल में, स्काउटिंग में, गाने में, नाटक में अथवा बहस करने में रुचि है तो बालक के मन में भी इन बातों की रुचि हो जाती है। यदि शिक्षक समय की पाबंदी करने की चेष्टा करते हैं तो बालक भी वैसा ही करते हैं। पर यदि शिक्षक समय पर काम नहीं करता, तो कक्षा के सब बालक भी समय पर काम नहीं करेंगे। इसी तरह जो शिक्षक सिगरेट पीते हैं, जिन्हें सिनेमा जाने की लत पड़ गई है, जो आलस्य में समय व्यतीत करते हैं अथवा दूसरों की निंदा किया करते हैं वे बालकों में उन्हीं बातों का प्रचार कर देते हैं। बालकों को हमारे आचरण का कोई भी बुरा उदाहरण न मिलने पाए, अन्यथा सब बालकों में उसका प्रचार हो जाता है। बालकों में अनेक भली आदतें अपने आचरण का उदाहरण देकर शिक्षक सहज में डाल सकता है। सबेरे उठना, रोज कसरत करना, पढ़ने में परिश्रम करना, अधिक बकवाद न करना, समय पर नियत स्थान पर पहुँचना,

जिसको जरूरत हो उसकी मदद करना, स्वच्छ रहना, दूसरों से मधुरता से बोलना, नशाखोरी न करना—ये सब आदतें बालकों में अपने आचरण का आदर्श उनके सामने रखकर डाली जा सकती हैं। बालक के अभिभावकों को चाहिए कि बालक का कल्याण ध्यान में रखते हुए उन बातों को अपने आप न करें जो बालक के लिये अहितकर हैं। जैसे बीड़ी पीना बालकों के लिये बुरा है, अतएव उनको चाहिए कि वे बालकों के कल्याण के लिये इस व्यसन को छोड़ दें।

जो काम वे स्वयं बालकों के सामने करते हैं, बालक उसे नहीं करेंगे, ऐसा सोचना भ्रम है। कई लोग बालक को ताड़ना देकर व्यसनों से रोकने की चेष्टा करते हैं, इससे उसके स्वभाव में सदा के लिये ऐसी बुराइयाँ आ जाती हैं जिनसे उसे मुक्त करना पीछे कठिन होता है। चोरी करना, झूठ बोलना ,उद्दंडता अथवा स्वेच्छाचरिता आदि अवगुण अभिभावकों के अविचार के कारण बालक के चरित्र में आ जाते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि जैसा अभिभावक और शिक्षक लोग बालक को बनाना चाहते हैं वैसे वे स्वयं बनें।

अनुकरण की गति का दूसरा नियम उसकी संक्रामकता है। अनुकरण करने वालों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी के हिसाब से बढ़ती है। यदि समाज में किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा है तो उसकी बातों का प्रचार समाज भर में थोड़े ही काल में हो जाता है। उदाहरणार्थ गाँधी टोपी का प्रचार लीजिए। सन् १६२० के पहिले इने गिने लोग इस प्रकार की टोपी पहिनते थे, पर असहयोग आंदोलन के समय इस टोपी का प्रचार एकाएक देश भर में हो गया, यहाँ तक कि कई एक उच्च सरकारी अधिकारी भी इसे पहनने लगे। यह समाज में

महात्मा गाँधी की प्रतिष्ठा का परिणाम है। हम इससे अनुकरण की संक्रामकता का अच्छा उदाहरण पाते हैं। नई रीतियाँ, नए आविष्कार तथा राज्यक्रांतियाँ इसी प्रकार देश में फैलती हैं। व्यापारी लोग अनुकरण की गति के इस नियम को समझकर नई चीजों का प्रचार पहिले पहल समाज के प्रतिष्ठित लोगों में करते हैं और विज्ञापन छापते समय उन लोगों का मत उन चीजों के साथ जोड़ देते हैं।

अभिभावकों या शिक्षकों को इस नियम का जानना आवश्यक है। जो बात एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बालक-समाज के समक्ष करता है उसका प्रचार उनमें बहुत जल्दी हो जाता है।

इसी तरह यदि कोई उद्दंड बालक स्कूल के नियम भंग करता है और उसे उचित दंड नहीं दिया जाता तो उसका अनुकरण करके नियम भंग करने की प्रवृत्ति सब बालकों में आ जाती है। अतः बालकों के सामने बुरा उदाहरण कभी न आने देना चाहिए। जिस बालक में अनेक सद्गुण हैं उसकी ओर दूसरे बालकों की श्रद्धा बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। कभी-कभी कक्षा का एक ही बालक उस कक्षा के सब बालकों को उन्नति अथवा अवनति के मार्ग पर ले जाता है। स्वामी रामतीर्थ एक जगह लिखते हैं कि वह व्यक्ति जो अपने आपको ऊँचा करने की चेष्टा करता है, पूरा स्वार्थी होकर भी समाज की सेवा करता है क्योंकि वह दूसरों के सामने ऊँचा बनने का आदर्श रखता है; उससे उन्हें प्रोत्साहन मिलता है और उसका अनुकरण करके वे लोग भी ऊँचा बनने की चेष्टा करते हैं। एक व्यक्ति के इस प्रकार ऊँचा होने से लाखों व्यक्ति ऊँचे उठते हैं। कक्षा का एक परिश्रमी, चरित्रवान् आदि प्रतिभाशाली बालक अपने आचरण का प्रभाव सारे स्कूल पर डाल देता है।

अनुकरण की गति का तीसरा नियम यह है कि अनुकरण भीतर से बाहर की ओर प्रवाहित होता है। अर्थात् कोई अनुकरण बाह्य क्रिया में प्रकाशित होने के पूर्व मनुष्य के विचारों में स्थान पा लेता है। मनुष्य के मन में जब उपयुक्त सामग्री तैयार हो जाती है तब वह अनुकरण के रूप में प्रकाशित होती है। नित्यप्रति के संस्कार इस सामग्री की तैयारी करते हैं। यदि कोई बात बार-बार मनुष्य के सामने आती जाय तो मनुष्य की उस बात में रुचि पैदा हो जाती है। तब वह अपनी क्रियाएँ उसके अनुसार सहज में बना लेता है। रास्ते में आते हुए हम अनेक विज्ञापन दीवार पर लगे देखते हैं। ये विज्ञापन उन वस्तुओं का संस्कार हमारे अव्यक्त मन पर डाल देते हैं। इसीलिये उन वस्तुओं के प्रति हमारी रुचि हो जाती है। रेल के स्टेशनों पर 'पीयर्स सोप' लिखा रहता है, अथवा किसी खास प्रकार के जूते की तस्वीर बनी रहती है। इन विज्ञापनों का असर हमारे अव्यक्त मन पर पड़ता है अतएव हम उन लोगों का अनुकरण करने के लिये तैयार हो जाते हैं जो इन चीजों को काम में लाते हैं।

बालक के मन में माता-पिता और शिक्षकों को ऐसे संस्कार डालने चाहिए जिससे कि वह अयोग्य व्यक्तियों का अनुकरण न करे और योग्य व्यक्तियों का अनुकरण करने के लिये सदा तत्पर रहे। किसी प्रकार का अनुकरण कराने के पूर्व बालक की मानसिक स्थिति तदनुसार बनाना आवश्यक है। यह उसे अनेक प्रकार का निर्देश देने से बन जाती है। यदि शिक्षक या अभिभावक चाहते हैं कि उनके बालक देशसेवक बनें तो उन्हें बालकों के सामने देशभक्तों के चित्र रखने चाहिए, उनकी गाथा सुनानी चाहिए, बार-बार उनका स्मरण कराते रहना चाहिए। साथही हमें

स्वयं भी कुछ देशसेवा का काम करना चाहिए। यदि इस प्रकार से बालकों की मानसिक स्थिति देशभक्ति के अनुकूल बना दी जाय तो वे सहज में ही देशसेवक बन जायँगे। पर जब ऐसा नहीं किया जाता, जब श्रद्धा होने के पूर्व ही कोई बात बालकों से कराने की चेष्टा की जाती है तब उनमें विपरीत अनुकरण की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। इसी तरह जिस शिक्षक में श्रद्धा नहीं होती यदि वह कोई काम करे तो बालकगण उसके विपरीत आचरण करते हैं।

अनुकरण का बालकों की शिक्षा में उपयोग—छोटे बालकों की शिक्षा में अधिकतर उनके सहज अनुकरण से काम लेना चाहिए। बालकों को खेल-खेल में ही सब बातें बताई जाँय और उन्हें शिक्षा देने में उनकी दूसरे बालकों की नकल करने की प्रवृत्ति काम में लाई जाय।

मैडम मांटीसौरी ने अपनी शिक्षा-प्रणाली में इस बात पर विशेष ध्यान दिया है। इस प्रणाली में बालक एक दूसरे से ही बहुत कुछ सीखते हैं और उन्हें शिक्षालय इतना प्रिय स्थान मालूम होता है कि वे अपना घर छोड़कर वहाँ पहुँचने के लिये बड़े लालायित रहते हैं।

बालकों में अच्छी-अच्छी आदतें उनकी इस सहज अनुकरण की प्रवृत्ति द्वारा डाली जा सकती है। अपने बदन की सफाई रखना, अपनी सब चीजें ठीक से रखना, समय पर अपना काम करना, दूसरों को मौका पड़ने पर सहायता देना, और खाने पीने के नियम आदि बालक दूसरों को देख-देख कर अपने आप सीख लेता है। यदि बालक के आसपास का वातावरण ठीक है तो वह जीवन की अनेक उपयोगी बातें सहज में सीख जाता है, और यदि दूषित है तो उसमें अनेक

चरित्रगत दोष आ जाते हैं। जो बालक अपने पिता को रोज बीड़ी और शराब पीते देखता है वह स्वयं उन बुरी आदतों से कैसे बच सकता है? उसकी सहज प्रवृत्ति वही काम करने की होगी जो बड़े लोग करते हैं।

विचारजन्य अनुकरण करने की योग्यता धीरे-धीरे बालकों में आती है। बालक अक्षरों का लिखना, शब्दों का उच्चारण करना, प्रश्न करने का ढंग इत्यादि इसी के द्वारा सीखता है। जो शिक्षक चाहता है कि उसके बालक सुंदर लेख लिखें, उसे उचित है कि वह स्वयं बालक के सामने अपने लेख का कोई बुरा नमूना न लाए। ऐसा करने से बालकों को लिखने की बुरी आदत पड़ जाती है। शिक्षा द्वारा शिक्षक बालक के अनुभवों को आदत का रूप दे देता है, जब तक बालक का अनुभव उसकी क्रियाएँ बनकर आदत का रूप धारण नहीं कर लेतीं तब तक उस अनुभव के स्थायी होने की संभावना नहीं रहती। इन आदतों के बनाने में अनुकरण का प्रधान स्थान है। अतएव बालक के सामने कोई बुरा नमूना न आना चाहिए। जब शिक्षक काले तख्ते पर लिखे तब सुंदर अक्षर ही लिखे और शब्दों का उच्चारण शुद्ध-शुद्ध स्पष्ट रूप से करे।

शिक्षक को चाहिए कि बालकों की एक दूसरे की नकल करने की प्रवृत्ति से काम ले। उन्हें सुंदर लेख पढ़कर सुनाना चाहिए। यदि किसी बालक ने कोई काम अच्छा किया हो तो उसे सबके सामने प्रकाशित करना अच्छा है। इससे अच्छे काम करने वाले बालक को प्रोत्साहन मिलता है और दूसरे बालक उसका अनुकरण करके स्वयं प्रशंसित होने की चेष्टा करते हैं।

स्पर्धा भी अनुकृति का एक रूप है। इसके बारे में हम आगे विस्तृत रूप से कहेंगे। यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि

जीवन-विकास में स्पर्धा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। बालक अपनी तुलना दूसरे बालकों से सदा करता रहता है और इसी के कारण वह दूसरों से आगे बढ़ने की चेष्टा करता है। जो उससे अधिक योग्य हैं उनका तो वह अनुकरण करता है पर जो उसके समान योग्यता वाला है उसके प्रति वह स्पर्धा का भाव रखता है। इसके कारण जब बालक अपने में कोई कमी देखता है तब उसे पूरी करने की कोशिश करता है।

अनुकरण और निर्देश—वास्तव में अनुकरण एक प्रकार से निर्देश का कार्य है। निर्देश के विषय में विस्तारपूर्वक आगे के परिच्छेद में लिखा जायगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि निर्देश में एक व्यक्ति का विचार दूसरे व्यक्ति के विचार पर प्रभाव डालता है, अथवा एक विचार दूसरे विचार को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। अनुकरण में यही बात क्रिया के विषय में होती है। दूसरे लोगों की क्रिया से प्रभावित होकर अपने आप भी वही क्रिया करने लग जाने का नाम अनुकरण है। जिस प्रकार अप्रतिष्ठित व्यक्ति से बालकों को प्रायः विपरीत निर्देश मिलता है उसी प्रकार ऐसे व्यक्ति की क्रियाओं से बालकों में विपरीत अनुकरण की प्रवृत्ति जागृत होती है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि बालक के जीवन-विकास में अनुकरण का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उचित अनुकरण प्रतिभा को नष्ट नहीं करता वरन् उसको बढ़ाता है। परंतु जो बालक सदा दूसरों के सहारे चलता है उसका जीवन प्रतिभा से शून्य हो जाता है। बालक को दूसरों का अनुकरण उतना ही करना चाहिए जितना उसके जीवन-विकास के लिये आवश्यक हो। अभिभावकों को सदा इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि हमें बालक को स्वावलंबी बनाना है। इसके लिये उसे पहिले

दूसरों का अनुकरण करना आवश्यक होता है, पर यदि वह सदैव इसी तरह मानसिक दासता में जकड़ा रहे तो उसके व्यक्तित्व का विकास न होगा। स्वावलंबी बालक दूसरों का अनुकरण भी अपनी स्वतंत्र बुद्धि से करता है अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के हेतु किन व्यक्तियों का अनुकरण करना उचित है इसका, वह अपनी स्वतंत्र बुद्धि से निर्णय कर अनुकरण करता है। ऐसा अनुकरण व्यक्ति-विकास और प्रतिभा का विरोधी नहीं है वरन् इसके सहारे मनुष्य मानवता के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है।

स्पर्धा

स्पर्धा का स्वरूप – स्पर्धा की प्रवृत्ति हमारे अंदर स्वभाव से ही वर्तमान रहती है। जैसे हमारे अंदर उत्सुकता, रचना, अनुकरण, आत्मप्रदर्शन तथा लड़ने की प्रवृत्ति जन्म से ही रहती है उसी प्रकार स्पर्धा की प्रवृत्ति भी है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह मालूम हो जायगा कि स्पर्धा की प्रवृत्ति अनुकरण करने की प्रवृत्ति के भीतर ही निहित है। पर दोनों प्रवृत्तियों की क्रियाओं में कुछ अंतर है। अनुकरण-प्रवृत्ति के अनुसार बच्चा अपने बड़ों के कार्यों का अनुकरण करता है और अपने को भी उन्हीं के समान बनाने की कोशिश करता है। परंतु स्पर्धा किए जाने वाले व्यक्ति से वह आगे बढ़ जाने का प्रयत्न करता है। स्पर्धा की प्रवृत्ति में तीन प्रवृत्तियों का संमिश्रण है—अनुकरण, द्वंद्वबुद्धि और आत्म-प्रदर्शन। जब बच्चे में स्पर्धा की प्रवृत्ति काम करती है तब वह अपने आपको दूसरों से बढ़कर दिखाने की चेष्टा करता है।

जीवन विकास में उपयोगिता—बालक के जीवन में स्पर्धा का रहना कोई बुरी बात नहीं है। वास्तव में यह भी वैसी ही

जीवनोपयोगी प्रवृत्ति है जैसी कि दूसरी प्रवृत्तियाँ। प्रायः लोग बच्चों की इस प्रवृत्ति को दबाना चाहते हैं। उनके विचार से स्पर्धा की प्रवृत्ति बच्चों के लिये हानिकारक है। पर ऐसा सोचना उनका भ्रम है, क्योंकि बिना स्पर्धा की प्रवृत्ति के बच्चों की उन्नति होना कठिन है। संसार के अनेक बड़े बड़े आश्चर्यजनक कार्य इसी स्पर्धा-प्रवृत्ति के कारण हुए हैं। यदि हम यह कहें कि संसार के ६० प्रति सैकड़ा प्रशंसनीय कार्य इसी प्रवृत्ति के आधार पर होते हैं तो इसमें अत्युक्ति न होगी।

इस प्रवृत्ति का बच्चों के जीवन में होना नितांत आवश्यक है। किसी भी माता-पिता अथवा शिक्षक को बच्चों में स्पर्धा-प्रवृत्ति का होना बुरा न समझना चाहिए। जिस बच्चे के अंदर स्पर्धा की प्रवृत्ति वेग के साथ काम करती है उसी बच्चे को हम उन्नति करते हुए देखते हैं। क्योंकि वह सदैव अपनी तुलना अपने से उच्च कोटि के बालकों से करता है। वह अपने इस प्रयत्न में दृढ़ रहता है और एक न एक दिन अपने कार्य में अवश्य सफल होता है। वह अपने बराबर के लड़के को अपने से बढ़ कर कभी नहीं देखना चाहता और इसीलिये वह सदैव उन्नति की ओर बढ़ता जाता है; मानो वह दूसरों से होड़ लगाकर दौड़ रहा है और इस दौड़ में सबसे आगे जाने की कोशिश कर रहा है। इसी स्पर्धा के बल पर वह अपनी कमी को पूरा करता है। वह अपने आचरण पर पूरा पूरा ध्यान रखता है और अपने अंदर ऐसी कोई कमी नहीं आने देना चाहता जिससे वह बड़ों की दृष्टि में दूसरे बालकों के मुकाबिले तुच्छ समझा जाय।

स्पर्धा का उपयोग—स्पर्धा का सदुपयोग किस प्रकार किया जाय, यह जानना अविभावकों और शिक्षकों के लिये अत्यावश्यक है। शिक्षक लोग बच्चों की स्पर्धा शक्ति को कई प्रकार से

बढ़ा सकते हैं। शिक्षक को चाहिए कि वह बच्चों में प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न करे। जब बच्चों में अग्रसर होने की होड़ लग जाती है तब वे अपने आप उन्नति करते हैं। बच्चों को प्रोत्साहन देने के लिये उन्हें कक्षा में अच्छा काम करने पर पारितोषिक देना चाहिए। अनेक स्कूलों में तो पारितोषिक-वितरण दिवस मनाने की प्रथा है। उस दिन विद्यार्थियों को पढ़ने और खेल कूद में योग्यता दिखाने के लिये इनाम दिए जाते। इससे पीछे रहने वाले लड़कों में भी अच्छा काम करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उनकी स्पर्धा जागृत होकर उनसे श्रेष्ठतर काम कराती है।

स्पर्धा जबतक साधारण मात्रा में रहती है तभी तक कल्याणकारक होती है। उसकी अति बालकों के लिये हानिकारक है। स्पर्धा प्रतियोगिता की जननी है। प्रतियोगिता की भावना जब परिमित रहती है तब वह लाभकर होती है, पर जब उसकी वृद्धि अधिक हो जाती है तब वह ईर्ष्या-द्वेष में परिणत हो जाती है। इसके फलस्वरूप बालक अपनी उन्नति करना तो भूल जाता है, और दूसरों के अकल्याण और अवनति की भावना मन में लाता है। वह अपने प्रतिद्वंद्वी की हानि करने की चेष्टा करने लगता है। वह दूसरों के नुकसान से अपना फायदा उठाने का प्रयत्न करता है। ऐसी भावना लड़कों में उस समय आती है जब प्रतियोगिता की भावना बार बार उभाड़ी जाती है। यदि अध्यापक हर एक काम के लिये प्रतिदिन नंबर दे तो विद्यार्थी सिर्फ नंबर पाने की भावना में काम करने लगेंगे, आत्मोन्नति के विचार उनके हृदय से जाते रहेंगे। इसका एक कुपरिणाम यह होता है कि कम नंबर पाने वाले बालकों का साहस टूट जाता है और सब कामों से उनकी रुचि हट जाती है। इसलिये अध्यापकों

को इस बात पर पूर्ण रीति से ध्यान रखना चाहिए। स्पर्धा की भावना को समय-समय पर उत्तेजित करना आवश्यक है, पर ऐसा न हो कि वह अपनी सीमा से अधिक बढ़ जाय।

सामूहिक स्पर्धा—स्पर्धा की बहुत सी बुराइयाँ उसको सामूहिक रूप देने से निकल जाती हैं। बालक इससे प्रेरित होकर अपनी ही उन्नति नहीं चाहता बल्कि वर्ग की उन्नति चाहता है। सामूहिक स्पर्धा पैदा करने के लिये अध्यापकों को एक ही कक्षा के भिन्न-भिन्न समूहों अथवा वर्गों में होड़ लगा देनी चाहिए। तब हर एक विद्यार्थी यह प्रयत्न करेगा कि उसके समुदाय की प्रतिष्ठा बढ़े। इस प्रकार की स्पर्धा से बच्चों की सामाजिक प्रवृत्ति का विकास होता है।

आत्मस्पर्धा—बालक में अपने अतीत के प्रति एक तरह का स्पर्धा का भाव रहना चाहिए। बालक सदा यह देखता है कि मैं अवनति तो नहीं कर रहा हूँ। वह स्वयं अपने प्रति एक प्रकार का स्पर्धा का भाव रखता है। इस तरह की चेष्टा का नाम आत्मस्पर्धा है। बालकों को एक डायरी रखनी चाहिए और उसमें अपनी उन्नति के विषय में प्रति दिन नोट लिखना चाहिए। किन्हीं किन्हीं संस्थाओं में बालकों की उन्नति का ग्राफ बनवाया जाता है।

नवाँ परिच्छेद

निर्देश

निर्देश का स्वरूप—निर्देश एक मानसिक शक्ति है। यह एक तरह का आंतरिक अनुकरण भी कहा जा सकता है। बाह्य अनुकरण शारीरिक प्रतिक्रिया है और निर्देशित होना आंतरिक। जब किसी मनुष्य पर इस शक्ति का प्रभाव पड़ता है तब वह इस शक्ति के वशीभूत होकर अपने मन में वही धारणा कर लेता है जो उसे सुझाई जाती है। किसी विषय में जो कुछ सुझाया जाता है वह उसे ही मान लेता है। इस प्रकार उसकी अपनी स्वतंत्र विचारशक्ति लुप्त हो जाती है। वह अन्य मनुष्यों द्वारा निर्देशित भावों अथवा विचारों को अपना समझने लगता है और तदनुकूल आचरण करता है। उसे ज्ञात नहीं रहता कि वह भावना अथवा विवेचना उसकी नहीं बल्कि दूसरे की है।

निर्देश-शक्ति प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को सदा प्रभावित करती रहती है। जब कभी वह अधिक तीव्र हो जाती है तब उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, और जब वह अव्यक्त रूप में रहती है तब हम उसे देख नहीं पाते। हम लोग सदा विचारों के संसार में भ्रमण किया करते हैं। हम दूसरे के विचारों अथवा भावों को, जो अदृश्य रूप से हमारे मन में

प्रवेश कर जाते हैं, अपना समझ लेते हैं। यह सब कार्य इसी निर्देश-शक्ति का है। इस शक्ति का प्रभाव हम छोटे-छोटे बच्चों पर अधिक देखते हैं। वे दूसरों के विचारों को अपना समझ-कर उसी के अनुसार आचरण करते हैं।

इस निर्देश-शक्ति का स्पष्ट स्वरूप हम संमोहन क्रिया (हिप्नाटिज्म) में देखते है। हिप्नाटिज्म का कर्ता पहले अपने उद्दिष्ट व्यक्ति को चेतना-शून्य बना देता है। जब उसे एक प्रकार की निद्रा आ जाती है तो वह सूक्ष्म गति से अपने विचारों को उसके मन में भेजता है। वह उसकी सुप्त चेतना को अधजगी कर के अपनी चेतना के अनुरूप कर लेता है, और फिर जो चाहता है उससे कहला लेता है। जैसा भाव वह उसके अंदर पैदा करना चाहता है वैसा कर लेता है। जब संमोहनकर्त्ता स्ववशीभूत व्यक्ति को एक गिलास पानी दे कर उसे शर्बत कहता है तब वह व्यक्ति उसे शर्बत ही समझ कर पीता है; और जब उसी पानी को कुनैन का पानी कहने लगता है तब वशीभूत व्यक्ति उसे कुनैन का पानी समझता है। वशीभूत-व्यक्ति का अनुभव वशकर्त्ता के अनुभव के अनुरूप हो जाता है।

हिप्नाटिज्म और इंद्रजाल की क्रिया एक ही रहती है। पहले में निर्देश का प्रभाव एक व्यक्ति पर पड़ता है और दूसरे में उसका प्रभाव एक-एक समूह पर पड़ता है। ऐंद्रजालिक अपने सामने उपस्थित जनता को जैसा सुझाता है, जनता उसी प्रकार का अनुभव करने लगती है। किंतु इस प्रकार के हिप्नाटिज्म या इंद्रजाल का प्रभाव उसी व्यक्ति पर पड़ता है जिसको मान-सिक शक्ति प्रयोगकर्त्ता की अपेक्षा दुर्बल होती है। जिसकी इच्छा-शक्ति प्रयोगकर्त्ता की इच्छाशक्ति की अपेक्षा अधिक बलशाली होती है उस पर प्रयोगकर्त्ता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

निर्देश से प्रभावित होने के लिये यह आवश्यक है कि बालक में कुछ विचारशक्ति आ गई हो। विचारशक्ति के अभाव में बाह्य अनुकरण संभव है पर निर्देशित होना संभव नहीं। छोटा बच्चा दूसरों के शारीरिक अनुकरण में लगा रहता है। जब तक बच्चे में किसी व्यक्ति के शारीरिक चेष्टाओं के प्रेरक भाव तक पहुँचने की शक्ति नहीं आती तब तक उसमें निर्देशक शक्ति भी अपना कार्य नहीं करती। बच्चा दूसरों को ताली बजाते या चिल्लाते देखकर स्वयं भी वैसा ही करने लगता है पर वह यह नहीं समझता कि ऐसा क्यों किया जाता है। इस प्रकार का अनुकरण केवल शारीरिक अनुकरण है।

किसी निर्देश के प्रभाव में आना मनुष्य की मानसिक दृढ़ता या दुर्बलता पर निर्भर रहता है। जिस मनुष्य में आत्म-निश्चय की शक्ति अधिक रहती है वह दूसरों के विचारों को अपने मस्तिष्क में नहीं घुसने देता। वह सदा अपनी विवेचना शक्ति द्वारा ही किसी काम को करता है। उसके विचार, भाव एवं व्यापार, सभी स्वतंत्र बुद्धि से होते हैं। परंतु जिनमें स्वतः विवेचनशक्ति या निर्णयशक्ति नहीं रहती उनपर दूसरों के विचारों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। जिन व्यक्तियों में दूसरों की बात नम्रतापूर्वक मान लेने की प्रवृत्ति रहती है वे दूसरों द्वारा बहुत शीघ्र प्रभावित होते हैं। सारांश यह कि जिनका मस्तिष्क कमजोर या अनुभव अपरिपक्व होता है वे दूसरों के निर्देश से शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं। जिनकी बुद्धि परावलंबी नहीं होती वे दूसरों के निर्देश से प्रभावित नहीं होते। यही नहीं, जिन व्यक्तियों में मानसिक दृढ़ता होती है वे अपने पास रहने वाले दूसरे व्यक्तियों पर अपने निर्देश का प्रभाव डालते रहते हैं। हरएक अधिक मानसिक बल वाला व्यक्ति अपने कम मानसिक

बल वाले व्यक्ति को निर्देश द्वारा प्रभावित करता है। पर यह निर्विवाद है कि प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर कुछ न कुछ निर्देश का प्रभाव अवश्य पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने से अधिक प्रतिष्ठित और बलशाली व्यक्तियों के निर्देश से प्रभावित होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि बालक के जीवन में निर्देश का भारी स्थान है। बालक सदा दूसरों के प्रभाव में रहा करता है। उसका अनुभव अपरिपक्व होता है। उसमें स्वयं भले बुरे या सत् असत् का निश्चय करने की शक्ति नहीं होती। वह तर्क नहीं कर सकता। उसकी कल्पनाशक्ति अधिक तीव्र होती है, अतएव उसे जिस प्रकार का निर्देश किया जाता है उसे वह सहज में ग्रहण कर लेता है। उसे जब जैसा सुझाया जाय तब वैसा ही मानने लगता है। यहाँ तक कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में भी बालक निर्देश द्वारा इतना प्रभावित हो जाता है कि जो चीज वास्तव में उसके सामने नहीं है उसे भी देखने लगता है। यदि बालक से कहा जाय कि अमुक स्थान पर एक राक्षस रहता है तो वह उस स्थान पर अँधियारी में उस राक्षस को देखने लगेगा। इस तरह बालकों को निर्देश-द्वारा कुछ भी सुझाया जा सकता है।

निर्देश का उद्गम—यों तो बच्चों के समीप रहने वाले सभी व्यक्तियों से निर्देश मिलता है पर अधिक निर्देश प्रायः माता, पिता, संबंधी एवं खेल के साथियों से मिलते हैं। जिन व्यक्तियों के प्रति बच्चे के हृदय में श्रद्धा और प्रेम है उनसे वह अधिक प्रभावित होता है। अतः बच्चा उनके व्यवहारों तथा व्यापारों को अपना आदर्श बना लेता है। बच्चों पर माता का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। माताओं के विश्वास ही बच्चों के विश्वास और नीति बन जाते हैं। अतएव जिस बात को माता अधिक मानती है, अधिक चाहती है, उसी बात को बच्चा भी

अधिक मानने और चाहने लगता है। इसी प्रकार साथियों का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। बचपन में बालक अपने जिन साथियों, भाई बहनों वा मित्रों के साथ खेलता है उनके आचरण अथवा विचार का उसके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ऐसा देखा जाता है कि खेल में बच्चे अपना-अपना पार्ट करते हैं। कोई बादशाह बन जाता है, कोई मंत्री हो जाता है और कोई सिपाही आदि। इन सबका प्रभाव उनके आगामी जीवन में पड़ता है। उनके आमागी जीवन की धारा कभी-कभी इन्हीं के कारण किसी विशेष मार्ग से बहने लगती है। अतः माता, पिता एवं संबंधियों का कर्तव्य है कि वे अपने बच्चों का लालन-पालन इस भाँति करें कि उन्हें अच्छे निर्देश मिलें। उन्हें ऐसे साथियों के बीच खेलने दें जो सदाचारी हों, और उनके खेल भी ऐसे हों जिनके द्वारा चरित्र में दृढ़ता और आदर्शानुरूपता आए। इसका फल यह होगा कि वे भविष्य में सदाचारी होंगे और आदर्शपूर्ण कार्य कर सकेंगे।

निर्देश का प्रवाह—ऊपर कहा जा चुका है कि निर्देश सदा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की ओर आया करते हैं। यह कार्य दो प्रकार से होता है; एक तो जानबूझ कर और दूसरे अनजान में। हमलोग आपस में भूत-प्रेत तथा राक्षस-दैत्य की बातचीत किया करते हैं। बच्चा इसे सुनता है और उसके हृदय में भय उत्पन्न हो जाता है। हम लोगों की इच्छा बच्चे के हृदय में भय उत्पन्न करने की नहीं होती, फिर भी वह भयभीत हो जाता है। हमारी सभी बातों से बालक प्रभावित होता है। जो बालक शिक्षित व्यक्तियों के घर में पलता है वह सहज में ही अनेक प्रकार की भली बातें सीख जाता है। उसका मस्तिष्क सदा उसे भले की ओर ले जाता है, इसके विपरीत अनुकूल परिस्थिति में न पलने वाले बालकों का

जीवन अविकसित रह जाता है। उनके आसपास का वतावरण उन्हें आगे बढ़ने से रोकता है। वे ऐसे विचारों के वातावरण में रहते हैं कि उससे उनका कल्याण नहीं होता। जिस प्रकार अन-जाने में हम दूसरों पर निर्देश डालते हैं वैसे जान-बूझकर निर्देश का प्रभाव दूसरे व्यक्तियों के ऊपर डाला जा सकता है। इस प्रक्रिया को शिक्षक और अभिभावकों को भली प्रकार समझना चाहिए; क्योंकि इसके द्वारा बालक का अनेक प्रकार से कल्याण किया जा सकता है। हमें यह भी जानना है कि कहाँ तक निर्देश देना बालक के जीवन-विकास के लिये लाभकारी है।

निर्देश के प्रकार—निर्देश को हम मुख्य चार भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) सामूहिक निर्देश (२) वैयक्तिक निर्देश (३) प्रति-निर्देश (४) आत्मा-निर्देश।

(१) सामूहिक निर्देश—सामूहिक निर्देश के कारण हम किसी भी बात को जिसे बहुत से लोग सत्य कहते हैं, बिना समझे बूझे मान लेते हैं, उसके वश में होकर तदनुकूल क्रियाएँ भी करने लगते हैं। जब किसी सभा में अनेक लोग आते हैं तो श्रोतागण वक्ता के भाषण से अधिक प्रभावित होते हैं। यदि वह (वक्ता) अपनी बात को प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग समझाए तो उतना प्रभाव न पड़ेगा। क्योंकि अनेक लोगों के मिलने से एक नया बल पैदा हो जाता है जिसके सामने एक आदमी की निश्चय-शक्ति ठहर नहीं सकती। अतएव राजनीतिक और सामाजिक कार्यों के लिये सभाएँ करना अति आवश्यक होता है। लेख लिख-कर लोगों को समझाने और सभा करके उन्हें समझाने में यही अंतर है कि लेख पढ़ते समय पाठक की बुद्धि स्वतंत्र रहती है, उसे प्रभावित करने के लिये समूह-निर्देश की शक्ति उपस्थित नहीं

रहती, पर सभाओं में अधिक कार्य समूह-निर्देश करता है।

इस शक्ति को समझकर शिक्षक लोग बालक की शिक्षा में उसका अनेक प्रकार से उपयोग कर सकते हैं। बालक शिक्षा के लिये एक कक्षा में बैठता है जिसमें उसके तीस पैंतीस और सहपाठी होते हैं। जब कोई बात उन सबसे कही जाती है तो जिस तरह उनके मन का झुकाव होता है उसी तरह उस बालक का भी हो जाता है। अतएव शिक्षक को इस शक्ति का उपयोग कक्षा में शांति-स्थापन और बालकों की नैतिक उन्नति के कार्य में करना चाहिए। स्कूल में समय समय पर सब बालकों को एक जगह बुला कर किसी श्रद्धेय व्यक्ति से उपदेश दिलाना चाहिए। जिन स्कूलों में प्रतिदिन बालकों को एकत्र करके ईश्वर-प्रार्थना कराई जाती है उनके बालकों में ईश्वर के प्रति आस्तिक भाव रहता है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ के बालक सहज ही नास्तिक हो जाते हैं। मुहम्मद साहब ने इस नियम को समझा था, उन्होंने एक साथ नमाज पढ़ने का नियम बनाया। मुसलमानों में एक हो जाने की शक्ति इसी नमाज से पैदा हुई है।

(२) **वैयक्तिक निर्देश**—वैयक्तिक निर्देश के वश में हो कर मनुष्य अपने विचारों पर विश्वास न करके दूसरों के वश में हो जाता है। जो आयु में, विद्या में, बल में, अथवा किसी कला में हमसे बड़ा होता है उसकी बात हम सहज में मान लेते हैं। इसी कारण नेता लोग अनेक मनुष्य-समूह पर अपना अधिकार जमाते हैं, और इसी के कारण अनेक लोग किसी मत के प्रवर्त्तक के पीछे सहज में ही चलने लगते हैं। शिक्षक आयु, विद्या, बल सभी बातों में बालकों से बड़ा रहता है, अतः उसकी बात बालक बिना बहस के मान लेते हैं। जैसे विचार वह बालकों को सुझाता है उसी प्रकार वे अपनी दृष्टि बदल लेते

हैं। यहाँ शिक्षक का कर्तव्य है कि वह सबके कल्याणकारी विचार ही अपने मन में लाए और दूसरों का सदा भला सोचे। किसी भी बालक के प्रति उसकी यह धारणा न हो कि वह बड़ा नीच है और सुधारने योग्य नहीं है। क्योंकि जब शिक्षक किसी बालक के प्रति ऐसा सोचता है तो उस बालक को उसी प्रकार का निर्देश मिल जाता है, और फिर वह बालक तदनुसार आचरण करने लगता है। शिक्षक को चाहिए कि सब बालकों के साथ प्रेम का व्यवहार करे। जब शिक्षक प्रेम का व्यवहार करेगा और प्रेम के शब्द सबसे कहेगा तो उसका निर्देश सबके मन को वश में कर लेगा और बालक भी परस्पर प्रेम बढ़ाएँगे। जो शिक्षक किसी बालक की बुरी बातों को सबके सामने कहता है वह उसे गहरी नैतिक हानि पहुँचाता है। दूसरों की भी इससे नैतिक अवनति होती है; क्योंकि इस प्रकार से बुरी बात का भी प्रचार हो जाता है। एक स्कूल के हेडमास्टर ने एक बालक को सुधारने के लिये उसके सब दुर्गुणों को लिखकर स्कूल के प्रधान कमरे के सामने टाँग दिया। इस प्रकार बालक का नैतिक उद्धार होना असंभव है।

शिक्षक को चाहिए कि अपने बालकों के सद्गुणों को जानें। यदि किसी ने कोई भला कार्य किया हो तो दूसरे बालकों के सामने उसे कहे। इससे उस बालक का उत्साह बढ़ता है। उसे बालक-समाज से अच्छे काम करने के लिये निर्देश मिलता है जिससे फिर वह और भी अच्छे कार्य करता है। इससे दूसरे बालकों के मन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। भलाई का विचार उन्हें सहज ही भले की ओर खींच ले जाता है। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह अपनी व्यक्तिगत निर्देश-शक्ति का सदा संचय करे। यह शक्ति चारित्रबल बढ़ाने से आती है। जिस तरह इंद्रजाल करने वाला अभ्यास से अपना मानसिक

बल इतना बढ़ा लेता है कि दूसरों के मन को वह सहज में ही खींच लेता है, इसी तरह शिक्षक भी अभ्यास से अपना मानसिक बल इतना बढ़ा सकता है कि उसके शिष्य उसका कहना सहज ही में मानने लगें। विद्या की वृद्धि से, परोपकार करने से और सदा दूसरों का कल्याण सोचते रहने से आध्यात्मिक बल बढ़ता है। जो शिक्षक विद्योपार्जन में कमी करता है, परिश्रम से जी चुराता है, और बालकों की सहायता में तत्पर नहीं रहता, जो स्वभाव का चिड़चिड़ा है जो लड़कों से अक्सर जिद किया करता है या उन्हें गालियाँ दे उठता है, जो उन्हें दुष्ट समझता है या जो दूसरे की निंदा किया करता है, वह अवश्य ही अपना आध्यात्मिक बल खो बैठता है। उसकी बात को फिर बालकगण नहीं मानते। वह जो कुछ उपदेश देता है उसका उलटा आचरण बालक करने लग जाते हैं। अतः अपना व्यक्तिगत या आत्मिक बल बढ़ाना शिक्षक के लिये परम आवश्यक है।

(३) **प्रतिनिर्देश**—निर्देश का तीसरा भेद प्रतिनिर्देश है। जब कोई व्यक्ति निर्देश के प्रतिकूल आचरण करता है तब उसे प्रतिनिर्देश से प्रभावित समझना चाहिए। यह शक्ति विचार या भाव की प्रतिकूलता के कारण उत्पन्न होती है, और यदि क्रिया बदल दी जाती है तो प्रतिकूलता भी दूर हो जाती है। यदि बालक हठवश किसी अनुचित कार्य की ओर प्रवृत्त हो और हम रोकें तो वह अवश्यमेव उस कार्य को करेगा। किंतु यदि उस कार्य से उसे विरत करने के लिये उसी कार्य को करने को कहें तो वह उस कार्य से विमुख हो जायगा। ऐसे स्थलों पर प्रतिनिर्देश का प्रयोग बड़ा लाभदायक है।

यदि कोई अध्यापक शरीर से कमजोर है या परिश्रम से जी चुराता है, तो छात्रों पर उसके प्रतिनिर्देश का प्रभाव पड़ता

है। वह जो कुछ भी कहता है उसे वे नहीं मानते। यदि वह अच्छी बात भी कहता है तो शिष्य उसका विरोध ही करने लगते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे अध्यापक के प्रति शिष्यों के हृदय में तनिक भी सहानुभूति नहीं रहती, उसका वे जरा भी अदब नहीं करते, वे उसके अधिकार में नहीं रहना चाहते। अतः अध्यापक को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि बालकों में प्रतिनिर्देश की जड़ न जमने पाए, क्योंकि यदि एक बार विरुद्ध निर्देश का प्रभाव उनपर पड़ जाता है तो उसे दूर करना बड़ा कठिन है। अतः अध्यापक को अपने आचरण, व्यवहार और भाषण द्वारा छात्रों को सदा अपना प्रेमभाजन बनाए रखना चाहिए, विरोध और क्रोध की भावना की उनके हृदय में छाया भी न पड़ने पाए।

(४) आत्मनिर्देश—चौथे प्रकार का निर्देश आत्मनिर्देश है। इसको विकसित करना शिक्षा का परम उद्देश्य है। मूर्ख और ज्ञानी में यही भेद है कि मूर्ख तो सदा दूसरों के कहे पर चलता है, उसे अपना कुछ सूझता ही नहीं और जैसा वह दूसरों से सुनता है वैसा ही मान लेता है; पर ज्ञानी पुरुष अपनी बुद्धि से काम लेता है; वह अपनी आत्मा पर विश्वास करता है और अपने आपको तुच्छ नहीं मानता, वरन् सदा अपने बल पर दूसरों का सामना करने के लिये तैयार रहता है। उसके मस्तिष्क में दूसरे लोगों के विचार काट-छाँट के बिना घुसने नहीं पाते। पर यह योग्यता साधना के उपरांत आती है। यह साधना अपने मन को जीतने और आत्मा को बली बनाने की साधना है। आत्मा प्रतिदिन के प्राप्त किए हुए अच्छे निर्देशों से बली बनती है। जो मनुष्य सदा इस विचार को मन में रखता है कि संसार में वह कोई विशेष कार्य करने के लिये पैदा हुआ है, वह किसी न किसी बड़े कार्य

के करने में समर्थ होता है। क्योंकि उसे आत्मनिर्देश-शक्ति ऐसा सामर्थ्य प्रदान करती है। इस प्रसंग में विटिंगटन की कथा को याद दिलाना अनुपयुक्त न होगा।

विटिंगटन नामक एक गरीब बालक किसी अनाथालय से भागकर लंदन आया। उसके मन में भरा था कि किसी दिन वह एक बड़ा व्यक्ति बनेगा। जब उसने सबेरे गिरजाघर का घंटा सुना तो उसे उस घंटे में यह आवाज सुनाई दी–"टन, टन, टन, विटिंगटन लार्ड मेयर ऑफ लंदन"। अर्थात् घंटा कहता है कि विटिंगटन लंदन का लार्ड मेयर या प्रधान अधिकारी होगा। कुछ दिनों के बाद वह बालक अनेक परिस्थितियों के धक्के खाते लंदन के लार्ड मेयर के यहाँ नौकरी करने गया। लार्ड मेयर ने उसे अपने यहाँ नौकर रख लिया। उसका मालिक उससे सदा प्रसन्न रहता था, इसलिये उस बालक ने कुछ शिक्षा भी प्राप्त कर ली। उसका आचरण, व्यवहार और रूप इतना सुंदर था कि लार्ड मेयर की लड़की इससे प्रेम करने लगी जिससे फिर उसका विवाह हो गया। मेयर के मरने के बाद उसकी जायदाद भी उसे मिल गई और कुछ दिनों के बाद वही गरीब लड़का लंदन का लार्ड मेयर हो गया।

भारत में अँगरेजी राज्य की नींव डालने वाले क्लाइव का भी ऐसा ही हाल है। एक बार जब क्लाइव ने अपनी आत्म-हत्या करने के लिये अपने ऊपर पिस्तौल चलाया और उससे गोली न निकली तो उसे यह दृढ़ विश्वास हो गया कि संसार में कोई बड़ा कार्य करने के लिये ईश्वर ने उसे पैदा किया है। यही विश्वास उसके हृदय में दृढ़ हो उसे असाधारण कार्यों में लगाता रहा, और इसी से वह उन कार्यों को करने में समर्थ भी होता रहा। जिसने भी संसार में कोई बड़ा कार्य किया है उसने इसी शक्ति

के बल पर किया है। एक बार नैपोलियन लड़ाई में लड़ते समय अपने गोलंदाजों के पास कोई विशेष सलाह देने गया। उस समय उन लोगों के पास इतनी गोलियों की बौछार हो रही थी कि सैकड़ों आदमी क्षण-क्षण पर मर रहे थे। गोलंदाजों ने नैपोलियन से प्रार्थना की कि आप यहाँ से चले जाइए, नहीं तो शायद आप को भी गोली लग जाय। नैपोलियन ने उत्तर दिया—"वह गोली अब तक नहीं बनी है—जिससे नैपोलियन मारा जायगा"। वास्तव में यही देखा गया। यह सब आत्म-निर्देश-शक्ति का ही प्रभाव है।

हमें चाहिए कि हम बालक का मानसिक बल बढ़ाने में उसे पूर्ण सहायता दें। उनको सदा यह सुझाएँ कि वे अपने आप को बली और बुद्धिमान समझें। जिस विचार को मनुष्य दृढ़ता से पकड़ लेता है उसी प्रकार का वह बन जाता है। आत्म-निर्देश-शक्ति चरित्र, बुद्धि तथा बल में ही परिवर्तन नहीं करती, बल्कि चमत्कारी शारीरिक परिवर्तन भी इसी से हो जाते हैं। आत्मनिर्देश-शक्ति से बाल्मीकि एक डाकू से विश्व-विख्यात कवि बन गए और कालिदास एक मूर्ख से पंडित हो गए। अभि-भावकों को चाहिए कि बालक के सामने कोई ऐसा मौका न आने दें जब वह किसी कार्य को करने से हिम्मत हार जाय। वह सदा अपने में यह विश्वास दृढ़ रखे कि वह सब कुछ करने योग्य है, उससे जो अभी न हो सकेगा उसको वह बाद में कर सकेगा।

अँगरेजी में एक कहावत है 'ही कैन, हू थिंक्स ही कैन'। जो यह सोचता है कि मुझमें कार्य करने का सामर्थ्य है, वह उसे अवश्य पूरा करता है। जो अपने को निर्बल तथा असमर्थ मान कर बैठ गया है वह उस कार्य को कभी नहीं कर सकता। हाथी सदा शेर से डरा करता है, अतएव वह सहज में ही उसके वश

में हो जाता है। यदि उसको आत्म-विश्वास होता तो वह कई शेरों को अपने पैरों तले रौंद कर मार डालता। यही मनुष्य का हाल है। अनेक लड़ाइयों में हिंदुओं की हार का कारण सामग्री की कमी नहीं, बल्कि उनमें आत्मनिर्देश-शक्ति का अभाव था। कई एक स्थान पर इसके कारण उनमें मुसलमानों के सामने आने का साहस ही न हुआ। मुहम्मद बख्तियार ने बिहार और बंगाल पर केवल १५० सवारों की सहायता से विजय प्राप्त कर ली थी। ऐसे ही कितने स्वस्थ लोग रोगों की भावना अपने में दृढ़ करने से उन रोगों के शिकार बन जाते हैं। उनका निर्देश उन्हें उसी ओर ले जाता है। जो लोग जैसा विश्वास करते हैं उसी के अनुसार वे परिस्थितियाँ भी पा लेते हैं; अथवा वे उनका अर्थ अपने निश्चयों के अनुसार लगा लेते हैं। यह आत्मनिर्देश का कार्य है।

निर्देश का दुरुपयोग—निर्देश-शक्ति का उपयोग जब अनुचित रूप में किया जाता है तब उसका प्रभाव बड़ा हानिकारक होता है। बचपन में मूर्ख माताएँ अथवा दाइयाँ बच्चों को खिलाते समय या सुलाते समय अथवा रोने से चुप कराने के लिये 'हौवा', 'गोगो' इत्यादि का जो भय भर देती हैं उसका बच्चों के भविष्य जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यह हमेशा बच्चे के हृदय को भयभीत और साहसहीन बनाता रहता है। अतः माता-पिता को चाहिए कि वे न तो स्वयं ऐसे निर्देश का प्रभाव बच्चे पर पड़ने दें और न नौकर चाकर ही इस प्रकार का भय उनके मन में डालने पाएँ।

निर्देश का उपयोग तो बच्चों की भलाई और सुधार के लिये होना चाहिए। बच्चों की विचारशक्ति परिमित होती है, अतः

वह स्वभाव से ही सदा दूसरे के विचारों को ग्रहण किया करता है। इसलिये माता-पिता और शिक्षक का सदैव यही ध्येय रहना चाहिए कि हानिकारक भावनाओं का प्रभाव बच्चों पर कभी न पड़ने पाए और जो ऐसी भावनाएँ उनमें हों, वे भी दब जायँ। इसकी सिद्धि में आचरण का बड़ा महत्व है। बच्चा स्वभावः बड़ों के आचरण का अनुकरण करता है। यदि बड़े लोग उसके सामने सदाचार का उदाहरण रखेंगे तो वह भी अवश्य एक अच्छा सदाचारी, नागरिक होगा।

पर प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता की सीमा होती है। ज्यों ज्यों बच्चा बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके स्वभाव में निर्देश का स्थान स्वतंत्र बुद्धि तथा विचार ग्रहण करते जाते हैं। इस अवस्था में माता पिता और अध्यापकों को चाहिए कि बच्चे के स्वतंत्र विचारों के विकास में बाधा न डालें। बाहर से मिले निर्देश बच्चे की विवेचनाशक्ति में बाधक होते हैं। दूसरों के निर्देश से अत्यधिक प्रभावित होने पर बालक में आत्मनिर्भरता, आत्मनिरीक्षण एवं आचरण का विकास नहीं होने पाता। वह परावलंबी और परमुखापेक्षी हो जाता है। उसका जीवन संकुचित हो जाता है। जब वह किसी संकट में पड़ जाता है और उसका कोई सहायक नहीं रहता तब वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वह कभी अकेले आपत्तियों का सामना नहीं कर सकता। अतः ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ने लगे त्यों-त्यों उसके कार्य, भाव एवं विचार को स्वतंत्र बनाने में हमें बालक को प्रोत्साहन देना चाहिए। इससे उसमें स्वतः निर्णयात्मक बुद्धि का विकास होगा और वह किसी पदार्थ या कार्य के मूल्य का महत्व स्वयं समझ सकेगा। सदा दूसरों की सहायता पर निर्भर रहना और दूसरों के विचारों और

सलाहों की प्रतीक्षा करते रहना अविकसित जीवन का द्योतक है। यह चरित्र और बुद्धि की दुर्बलता है। चरित्र-विकास के लिये बालक की बुद्धि का स्वतंत्र होना आवश्यक है।

दसवाँ परिच्छेद

खेल

खेल की व्यापकता—खेल बालकों के जीवन के लिये अति आवश्यक व्यवसाय है। जिस प्रकार भोजन क्षुधा-शांति के लिये और वस्त्र-शरीर रक्षा के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार खेल बालकों के शरीर-गठन और मनोविकास के लिये आवश्यक है। मनुष्य के ही बच्चे नहीं खेलते; बिल्ली, कुत्ते तथा बंदर के बच्चों को भी हम खेलते देखते हैं। यदि एक बिल्ली के बच्चे के सामने एक गेंद आ जाय तब वह उसे धक्का लगाता है, फिर जल्दी से मुँह में पकड़ लेता है और फिर छोड़ देता है। इसी तरह दो कुत्ते के पिल्ले झूठ-मूठ आपस में लड़ते हैं, एक जमीन पर गिर जाता है और दूसरा उसे काटने की चेष्टा करता है। बंदरों के बच्चों का कूदना या कुश्ती लड़ना बड़ा मनोरंजक होता है। हमारे बालक भी इसी प्रकार खेलते हैं। बालक का अधिक समय खेल में ही व्यतीत होता है।

खेल एक प्रकार की मूलप्रवृत्ति है जो उच्चवर्ग के सभी प्राणियों में पाई जाती है। विकास-परंपरा में जिस प्राणी का जितना ऊँचा स्थान है उतना ही अधिक उसके जीवन का काल खेल में जाता है। मनुष्य के बच्चे बहुत काल तक खेलते

रहते हैं। इतना ही नहीं, वयस्क लोग भी समय-समय पर खेलते हैं। जो जाति आधुनिक काल में जितनी उन्नत है, उतना ही उसके जीवन में खेल का महत्त्व है। शीलर महाशय का तो यहाँ तक कहना है कि मनुष्य का मनुष्यत्व खेलने में ही है।

खेल के लक्षण—खेल एक स्फूर्तिपूर्ण क्रिया है। खेल के साथ-साथ सदा स्वतंत्रता और खुशी रहती है। खेल बाध्य होकर नहीं खेला जाता। जब कोई खेल बाध्य होकर खेला जाता है तब वह कार्य का रूप धारण कर लेता है। खेल का लक्ष्य खेल ही है। स्टर्न महाशय ने खेल की परिभाषा करते हुए कहा है कि खेल एक स्वतंत्र और स्वलक्ष्य कार्य है। हाँ, यह बात अवश्य है कि खेल में भी नियम होते हैं, पर ये नियम ऐसे हैं जो खिलाड़ी अपने आप बनाते हैं। किसी खेल में शामिल होने वाला बालक उस खेल में स्वेच्छा ही से शामिल होता है और खेल के आनंद के लिये उसके नियमों का पालन करता है। खेल की स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि बालक किसी प्रकार का नियम ही नहीं मानता। सामूहिक खेल बिना नियमों के पालन किए संभव नहीं।

ऊपर कहा गया है कि खेल की क्रिया का कोई लक्ष्य नहीं होता। इसका अर्थ यह कदापि न समझना चाहिए कि खेल से प्राणी का कोई लाभ ही नहीं होता। इसी प्रकार खेल में बालक स्वतंत्र है, इस बात का अर्थ यह नहीं कि बालक बिना खेले भी रह सकता है। एक तरह से बालक खेलने में स्वतंत्र है परंतु दूसरी ओर यह बात भी सत्य है कि प्रकृति बालक को खेलने के लिये बाध्य करती है। प्रकृति ने बालक के स्वभाव में इस प्रकार की तीव्र प्रवृत्ति रखी है कि वह खेले बिना रह ही नहीं सकता। जिस प्रकार एक कवि कविता किए बिना रह नहीं सकता उसी

प्रकार बालक खेल खेले बिना नहीं रह सकता। अतएव जहाँ यह कहना सत्य है कि बालक की खेल की क्रिया स्वतंत्र है, वहाँ यह कहना भी उतना ही सत्य है कि बालक बरबस खेलता है। वह वास्तव में अपने ही स्वभाव से बाध्य होकर खेलता है, अतएव उसकी स्वतंत्रता और उसकी विवशता में कोई विरोध नहीं।

खेल का कार्य प्रकृति की दृष्टि से लक्ष्यहीन नहीं है। प्राणि-मात्र के सभी व्यवहार प्राणिशास्त्र की दृष्टि से लक्ष्यमय होते हैं। अपने व्यवहारों द्वारा कोई भी प्राणी पूर्णता की प्राप्ति करता है। अतएव यह कहना कि खेल का लक्ष्य खेल ही है, आंशिक सत्य मात्र है। खेलने वाले व्यक्ति की चेतना के समक्ष खेल के अति-रिक्त कोई लक्ष्य न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति उस व्यक्ति से लक्ष्य-हीन कार्य करा रही है। वास्तव में खेलों द्वारा प्रकृति बालक से जीवन की आवश्यक तैयारियाँ कराती है।

खेल की उपयोगिता

स्पेंसर महाशय का सिद्धांत—मनोवैज्ञानिकों ने खेल की जीवन में उपयोगिता बतलाते हुए भिन्न-भिन्न सिद्धांत स्थिर किए हैं। इंगलैंड के विद्वान् स्पेंसर महाशय के अनुसार बालक इसलिये खेलता है कि उसके शरीर में आवश्यकता से अधिक एकत्रित शक्ति का व्यय हो जाय। बालक प्रकृति से सदा शक्ति उपार्जित करता रहता है। वह जो भोजन करता है उससे उसके शरीर और मन में शक्ति आती है। अब यदि इस शक्ति का पूरा उपयोग न किया जाय तो वह बालक के मन और शरीर को हानि पहुँचाएगी। जिस प्रकार इंजन के बॉयलर में एकत्रित भाप जब किसी काम में नहीं लाई जाती तब इंजन को ही नुकसान

पहुँचाती है, उसी प्रकार बालक की उपार्जित शक्ति का यदि कुछ उपयोग न किया जाय तो वह उसे अवश्य हानि पहुँचाएगी। बालक को जीवनरक्षा के लिये बहुत थोड़े ही काम करने पड़ते हैं। अतः उसकी संचित शक्ति खेल द्वारा व्यय होती है। खेल स्पेंसर महाशय के अनुसार प्रकृति का एक प्रकार का 'सेफ्टी वाल्व' है जिसके द्वारा बालक की अनावश्यक एकत्रित शक्ति बाहर निकल जाती है। जब बालक का मन चंगा होता है तब वह स्फूर्ति से उछलने, कूदने, नाचने और गाने लगता है। वह अपने साथियों के पास जाकर अनेक प्रकार की किलोलें करता है।

कार्ल ग्रूस महाशय का सिद्धांत—उपर्युक्त सिद्धांत को दूसरे मनोविज्ञान-वेत्ता नहीं मानते। उस सिद्धांत की प्रत्यक्ष त्रुटि यह है कि खेल को स्पेंसर महाशय ने एक प्रकार की व्यर्थ सी क्रिया मान लिया है। बॉयलर से निकली हुई भाप इंजन को कोई लाभ नहीं पहुँचाती। क्या बालक के खेल भी इसी प्रकार उसके जीवन को, उसके मन और शरीर को कोई लाभ नहीं पहुँचाते? बालक के खेल तो बालक के व्यक्तित्व के विकास में बहुत सहायक होते हैं। इस ओर जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् कार्ल ग्रूस महाशय ने मनोविज्ञान-वेत्ताओं का ध्यान आकर्षित किया। उनके अनुसार बालक अपनी खेल की क्रियाओं में वे सब बातें करता है जो उसे अपनी प्रौढ़ावस्था में करने पड़ेंगे। एक तरह से बालक खेल द्वारा अपने जीवन-संग्राम की तैयारी करता है। खेलने से बालक का शरीर भली भाँति गठित होता है और वह संसार के विषय की अनेक बातें सीख जाता है। बालकों के खेल की सामग्री उनके वातावरण से तैयार होती है। वे जो क्रियाएँ दूसरों को करते देखते हैं उन्हें स्वयं भी करने लगते हैं। एक छोटी बालिका अपनी माँ को रोटी पकाते देखती है तो वह

भी अपने खेल में वही काम करने लगती है। इसी प्रकार खेल में बालक चोर, सिपाही, डाक्टर और न्यायाधीश आदि का अभिनय करता है। अपनी कल्पना की सहायता से वह उन सब बातों की पूर्ति कर लेता है जो उसे वास्तव में उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बालक समाज में होने वाले अनेक व्यवहारों और कार्यों से परिचित हो जाता है। वह कुछ काल के पश्चात् वास्तविकता से असंबद्ध न रहकर उससे भली भाँति परिचित हो जाता है। जिस बालक ने जिन कार्यों को करने की कल्पना की हो वह समय आने पर उन कार्यों को उन बालकों की अपेक्षा अधिक उत्तमता से कर सकेगा जिनके मन में कभी उस प्रकार की कल्पना न उठी हो। भारतवर्ष में पुराने समय में बालकगण किलेबंदी का खेल खेलते थे। इन खेलों द्वारा सैनिक जीवन के लिये उनकी तैयारी होती थी। आधुनिक काल में यूरप में भी अनेक प्रकार के सैनिक खेल खेले जाते हैं। इससे बालकों में ऐसी भावनाएँ जागृत हो जाती हैं जो उन्हें भावी जीवन में सैनिक बनने में सहायता पहुँचा सकती हैं।

कार्ल ग्रूस का सिद्धांत प्रायः सर्वमान्य है। खेल हमारे भावी जीवन-संग्राम के लिये आवश्यक है, इस बात की सत्यता में कोई भी संशय नहीं कर सकता। यदि हम प्रकृति के अनेक प्राणियों के जीवन को देखें तो यह विदित होगा कि जिस प्राणी को जीवन-संग्राम के लिये जितनी अधिक तैयारी होती है, उसका खेल का काल उतना ही दीर्घ होता है। मनुष्य का बालक वर्षों तक खेलता रहता है, अतएव वह जीवन-संग्राम में सबसे योग्य भी बनता है। किसी भी राष्ट्र वा समाज के बालकों का खेलने का समय कम हो जाना उस राष्ट्र वा समाज का निर्बल होना है।

स्टैनले हाल महाशय का सिद्धांत—अमेरिका के बाल-

मनोविज्ञान के प्रसिद्ध पंडित् स्टैनले हाल के मतानुसार बालक अपनी खेल की क्रियाओं में प्राणिविकास की परंपरा की सीढ़ियों को पार करता है। उनका कथन है कि हरएक व्यक्ति अपने जीवन में उन सब अवस्थाओं का अनुभव करता है जो मानवता के विकास के पूर्व आ चुकी हैं। जिस प्रकार सभ्य होने के पहले मनुष्य बर्बर अवस्था में था और उस अवस्था को पार करके ही सभ्यता की ऊँची सीढ़ी पर चढ़ सका है, उसी तरह एक बालक भी कुछ काल तक बर्बरता की अवस्था में रह कर सभ्यता को प्राप्त करता है। बालक के अनेक खेल इस बर्बरता के सूचक हैं। बालक मगर और बकरी, सिंह और सियार इत्यादि के ऐसे अनेक खेल खेलता है जिनका उसके भावी जीवन में कुछ उपयोग नहीं। पर यदि वे खेल बालकों को न खेलने दिए जायँ तो उनका जीवन पूर्ण विकसित न हो। उक्त प्रकार के खेलों से यह स्पष्ट है कि बालक के सभी खेल उसके भावी जीवन की तैयारी नहीं हैं। अतएव यह अवश्य मानना पड़ेगा कि कार्ल ग्रूस महाशय का सिद्धांत बालकों के हर प्रकार के खेलों पर नहीं लगाया जा सकता। यह अवश्य कहा जा सकता है कि बालक के अधिकांश खेल ऐसे हैं जिनके द्वारा उसके भावी जीवन की तैयारी होती है।

मैगडूगल का सिद्धांत—मैगडूगल महाशय ने मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि बालक केवल उसी समय नहीं खेलता जब कि उसके शरीर और मन में शक्ति भरी हो; वह थकावट की अवस्था में भी खेलता है। उनके कथनानुसार खेल शक्ति पैदा करने का एक साधन है। खेल से उत्पन्न हुए आनंद के कारण हमारे शरीर और मन में नवीन शक्ति का संचार हो जाता है। हम देखते हैं कि बालक जब स्कूल के कार्य से बिलकुल थक जाते हैं तब भी वे बड़े चाव के साथ खेलों में

सम्मिलित होते हैं और खेलने के बाद थक कर नहीं वरन् स्फूर्ति के साथ घर लौटते हैं। हाँ यह बात अवश्य है कि जो बालक खेल में अत्यधिक परिश्रम करते है वे थक जाते हैं, पर समुचित रूप में खेल शक्ति का वर्धक होता है।

उपर्युक्त कथन से यह तो निश्चित है कि खेल के द्वारा बालक की अनेक प्रकार की भलाइयाँ होती हैं। खेल से उसका जीवन उत्तरोत्तर विकसित होता है। वह अनेक समाजोपयोगी आदतें सीख जाता है और उसके जीवनोपयोगी व्यवहार-ज्ञान की वृद्धि होती है।

खेल के प्रकार

बालकों के खेलने में स्फूर्ति और वातावरण का स्थान—बालकों के खेल उनके वातावरण और उनकी मानसिक अवस्था या स्फूर्ति पर निर्भर होते हैं। जो बालक जिस प्रकार के वातावरण में रहता है वह तदनुकूल खेल खेलता है। बालक जो कुछ देखता, सुनता या जानता है वह सब उसके खेल की सामग्री बन जाता है। जो बालक एक शिक्षक के पास रहता है वह शिक्षा के खेल खेलता है और जो सैनिकों को देखा करता है वह सैनिकों के खेल खेलता है।

ग्रामीण बालक ग्राम के खेल खेलता है और नगर का बालक नगर के। अर्थात् वातावरण के अनुसार खेलों में भेद होते हैं। जिस बालक ने कभी सिपाही नहीं देखा वह सिपाही का खेल नहीं खेलेगा। उसी प्रकार जिस बालक ने किसान को हल जोतते कभी नहीं देखा वह हल जोतने का खेल नहीं खेलेगा।

उपर्युक्त कथन से खेल पर वातावरण का प्रभाव स्पष्ट है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि खेल में बालक के मानसिक गठन, स्फूर्ति वा रुचि का कोई स्थान ही नहीं। वातावरण में अनेक बातें रहती हैं। उन सब बातों में वे ही बातें बालक के ध्यान को

आकर्षित करती हैं जो उसके मानसिक गठन या रुचि के अनुरूप हों। एक ही वातावरण होते हुए भी खेलों में दो बालकों की रुचि भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। देखा गया है कि बालकों के खेलों में केवल वातावरण के कारण ही भिन्नता नहीं होती, वरन् उनकी आयु, रुचि और लिंगभेद के अनुसार भी उनमें भिन्नता होती है। जो खेल पाँच बरस का बालक खेलेगा वह दस बरस के बालक को अच्छा न लगेगा। इसी प्रकार कोई बिरला ही लड़का होगा जो रोटी पकाने का खेल खेलेगा। लड़कियाँ भी प्रायः सिपाही का खेल नहीं खेलतीं। लड़कों को सिपाही का खेल पसंद आता है और लड़कियों को रसोई बनाने का। इसका कारण लिंगभेद है।

खेलों के भेद—खेलों के भेद निम्नलिखित प्रकार से दिखलाए जा सकते हैं—
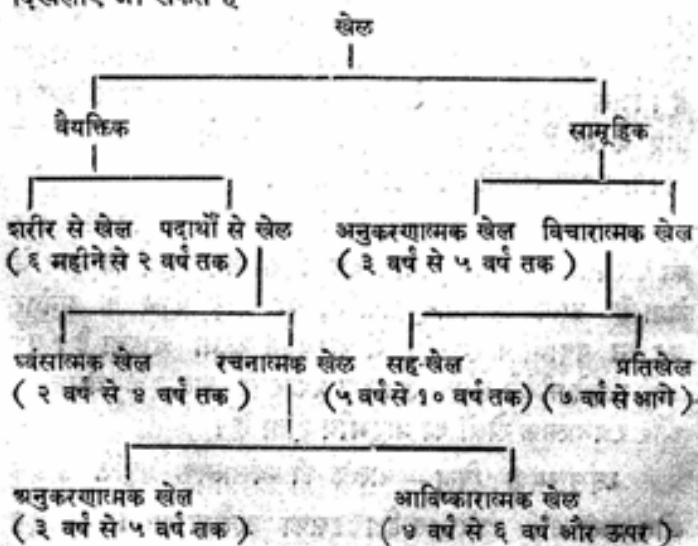
बालक का शरीर से खेल—बालक के प्रथम खेल अपने शरीर से ही होते हैं। उसे अपने चलने-फिरने और हाथ पैर हिलाने-डुलाने की क्रिया में सहज आनंद आता है। हम बालक को उछलते-कूदते, ऊपर चढ़ते-उतरते, नाचते, झूला झूलते या चिल्लाते देखते हैं। ये खेल बालक किसी दूसरे को दिखाने के लिये नहीं खेलता, बल्कि इन सब खेलों के प्रति उसकी सहज प्रवृत्ति होती है। इनसे बालक के शरीर के अवयव दृढ़ होते हैं। उसकी इंद्रियाँ अपना अपना काम करने में कुशल हो जाती हैं और उसके स्नायुओं में दृढ़ता आ जाती है।

पदार्थों से खेल—जब बालक का जीवन विकसित होता है और उसका संसार के विषय में ज्ञान बढ़ता है तब वह संसार के अनेक पदार्थों से खेलने लगता है। बालक प्रारंभ में तो अपने शरीर को ही खिलौना बना लेता है, परंतु फिर वह शरीर के अतिरिक्त दूसरे पदार्थों का भी खिलौना बनाना चाहता है। जिस प्रकार शरीर से खेलकर वह शरीर के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करता है उसी प्रकार वह पदार्थों से खेलकर उनपर भी अपना प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करता है।

आरंभ में पदार्थों से खेलने में बालक उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर पाता। वह किसी नए पदार्थ को हाथ में लेता है, उसको हिलाता-डुलाता है, पर थोड़े काल के अनंतर वह उन पदार्थों के रूप-रंग में परिवर्तन करना चाहता है। वह उन्हें तोड़ने-फोड़ने लगता है। इस प्रकार से बालक के ध्वंसात्मक और रचनात्मक खेलों का प्रादुर्भाव होता है।

ध्वंसात्मक खेल—बालक की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति से हम लोग भली भाँति परिचित हैं। इसका उल्लेख बालकों की मूल

प्रवृत्ति में किया जा चुका है। यदि एक कागज बालक को मिल जाता है तो वह उसको फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देता है, अपने खिलौनों को फोड़ देता है और सुंदर गुड्डी को चिथड़े-चिथड़े कर देता है। यदि कोई चीज भली भाँति सजाई रखी है तो वह उसकी सजावट को बिगाड़ देता है। इन क्रियाओं के द्वारा बालक अपनी शक्ति से परिचित होता है और उसके पदार्थ-ज्ञान की वृद्धि होती है। किसी वस्तु को तोड़ने में बालक को एक प्रकार का विजय का आनंद मिलता है। इच्छा न करते हुए भी वह तोड़-फोड़ के खेलों से बहुत सी बातें सीख लेता है। बाह्य पदार्थों की जड़ता, उनकी स्थिरता, उनका भार और उनकी भीतरी बनावट आदि बालक इन्हीं तोड़-फोड़ के खेलों से जानता है। जैसे-जैसे उसकी आयुवृद्धि होती है, वह जान-बूझकर ज्ञान प्राप्त करने के लिये चीजों को तोड़ता-फोड़ता है। धीरे-धीरे इन ध्वंसात्मक खेलों से रचनात्मक खेलों का विकास होता है।

रचनात्मक खेल—ध्वंसात्मक और रचनात्मक खेलों में आंतरिक एकता है। दोनों में पदार्थ के रूप, स्थिति या स्थान में परिवर्तन किया जाता है। स्टर्न महाशय का कहना है कि लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में रचनात्मक प्रवृत्ति अधिक होती है। लड़कियों में जिस प्रकार नकल करने की प्रवृत्ति अधिक होती है उसी प्रकार लड़कों में आविष्कार की प्रवृत्ति अधिक होती है। ४ से ६ वर्ष की अवस्था में लड़कियों में भी इस रचनात्मक प्रवृत्ति का आविर्भाव देखा जाता है। बालक की पहले पहल की रचनाएँ दूसरों की नकल मात्र होती हैं, पर फिर इस रचनात्मक प्रवृत्ति में परिपक्वता आ जाती है।

अनुकरणात्मक खेल—बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति तीव्र होती है। इसलिये उसके प्रारंभिक खेल दूसरे के अनुकरण

मात्र होते हैं। बालक के रचनात्मक खेलों में भी अनुकरण का पर्याप्त भाग रहता है। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं के खेलों में अनुकरण अधिक काम करता है। यदि हम किसी लड़के को एक खिलौने का नमूना दें और उसी तरह का खिलौना उससे बनाने को कहें तो वह नमूने की नकल न करके अपना स्वतंत्र खिलौना बनाएगा। परंतु एक लड़की उस नमूने की ज्यों की त्यों नकल करने की कोशिश करेगी।

आविष्कारात्मक खेल—आविष्कारात्मक खेल में बालक नई-नई बातों का आविष्कार करता है। यदि एक बालक ने मिट्टी का बैल बनाया और उसे देख दूसरे ने भी बैल ही बनाया तो यह काय अनुकरणात्मक होगा। परंतु यदि किसी बालक को बैल बनाते देखकर दूसरा बालक घोड़ा बनाए, तो यह उसका आविष्कारात्मक खेल होगा। ऊपर कहा जा चुका है कि इस प्रकार के खेल की प्रवृत्ति लड़कों में अधिक होती है, और लड़कियों में अनुकरणात्मक खेल की प्रवृत्ति अधिक होती है।

हमें चाहिए कि बालकों के लिये अनेक प्रकार की खेल की सामग्री एकत्र करें जिससे वे नए-नए प्रकार के खेल खेल सकें। इन खेलों के द्वारा बालकों की रचनात्मक कल्पना की वृद्धि होती है जो उनके जीवन के अनेक कामों में लाभप्रद होती है। वे अनेक प्रकार की खोजें करते हैं और किसी परिस्थिति में अकेले पड़ जाने से घबड़ाते नहीं।

उपर्युक्त सभी खेल वैयक्तिक खेल हैं। जैसे-जैसे बालक के खेलों में विकास होता जाता है, उसकी कल्पना अधिकाधिक महत्त्व का कार्य करती है। वास्तव में कल्पना के अभाव में किसी प्रकार का खेल संभव नहीं है। खेलों द्वारा कल्पना का विकास होता है और कल्पना के विकसित होने पर खेल

अधिकाधिक आनंददायक होते हैं। कुछ ऐसे खेल हैं जिनमें कल्पना के द्वारा बालक अपने आपको डाक्टर, सिपाही, मल्लाह इत्यादि मानकर खेल खेलता है। वह छड़ी को घोड़ा मान कर अपने को घुड़सवार बना लेता है। कुछ बालिकाएँ अपनी गुड़ियों को इस प्रकार प्यार करती हैं जैसे माँ बच्चों को। वे अपने को गुड़िया की माँ मान लेती हैं और जैसे माँ अपने बच्चे को सीपी से दूध पिलाती हैं, उसे पालने में सुला देती है, पुचकारती और गीत गाती है, उसी प्रकार बालिका भी अपनी गुड़िया को दूध पिलाती, छाती से चिपकाती, उसका चुंबन लेती, उससे बातचीत करती, और उसे पालने में डालकर झुलाती है। सारांश यह कि बालिका कल्पना के द्वारा एक जगत् का निर्माण कर लेती है, और इसी कल्पना के कारण उन खेल की चीजों में आनंद आता है। बालक का जगत वैसा रूखा सूखा नहीं होता जैसा वयस्क लोगों का। वह नित्य नये जगत् में रहता है और अपने विषय में सदा नई-नई कल्पनाएँ करता रहता है।

अब हमें यह विचार करना है कि क्या बालक को डाक्टर बनने और बालिका को माँ का स्वाँग रचने से कोई लाभ होता है। साधारणतः हमें यही मालूम होता है कि इन खेलों से कोई लाभ नहीं। परंतु जब हम सूक्ष्म बुद्धि से विचार करते हैं तब देखते हैं कि इन स्वाँगों के खेल से बालक उस वास्तविकता से परिचित हो जाता है जिससे अन्यथा परिचित होना असंभव है। जब बालक डाक्टर बनता है तब उसे अपनी कल्पना में वे सब बातें लाने की आवश्यकता पड़ती है जो डाक्टरी के व्यवसाय के लिये आवश्यक हैं। वह डाक्टरों के व्यवहारों को भली-भाँति देखता है और उनकी छोटी-छोटी बातों की ओर उसका ध्यान आकर्षित होता है। ध्यान आकर्षित होने का पहला

नियम यह है कि आकर्षक वस्तु से हमारा प्रयोजन सिद्ध हो। जिस वस्तु से हमारा प्रयोजन ही नहीं उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित नहीं होता। यदि बालक को डाक्टर, सिपाही, मजिस्ट्रेट इत्यादि के स्वाँग रचने की आवश्यता न हो तो वह इन लोगों के बारे में कभी कुछ न बिचारे और न किसी प्रकार उनके व्यवहारों से परिचित हो सके। देखा गया है कि जो बालक स्वाँग रचने में प्रवीण होते हैं वे ही आगे चलकर प्रखर बुद्धि वाले होते हैं। स्वाँग रचना कल्पना का वह कार्य है जिसके द्वारा बालक कठोर वास्तविक जीवन में रहने की तैयारी करता है। हमें इसे बालकों की मूर्खता कदापि न समझना चाहिए। यदि कोई प्रौढ़ अवस्था वाला व्यक्ति अपने को दिल्ली का सुलतान मानने लग जाय तो इसे हम उसकी मानसिक विक्षिप्तता या पागलपन कहेंगे, परंतु यदि कोई बालक अपने को राजा मानकर कोई खेल खेले तो यह उसका मानसिक विकास कहा जायगा।

बालकों के सामूहिक खेल—बालक के प्रथम सामूहिक खेल अपनी बराबरी वाले बालकों के साथ नहीं होते, वे वयस्क लोगों के साथ होते हैं। बालक अपनी दाई के साथ आँखमिचौनी का खेल खेलता है। वह उसके विनोदों से आनंद उठाता है। पर जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती है, वह वयस्क लोगों के साथ खेलना पसंद न करके बराबर वालों के साथ खेलने के लिये उत्सुक होता है। इन सामूहिक खेलों में हम धीरे-धीरे विकास होता देखते हैं। आरंभ के खेल एक प्रकार के मानसिक भाव की संक्रामकता के प्रदर्शक होते हैं। बालक का ताली बजाना, चिल्लाना और दौड़ना प्रायः दूसरों की नकल से होता है। ३-४ वर्ष की अवस्था तक वह सिर्फ इसी प्रकार की नकल मात्र कर पाता है।

इन खेलों में बालकों की संख्या जितनी ही अधिक होती है उतना ही अधिक उन्हें आनंद आता है। एक बालक उनमें से अगुआ बन जाता है और शेष उसका अनुकरण मात्र करते हैं। बालकों का रेलगाड़ी का खेल प्रायः सभी ने देखा होगा। इस खेल में बड़ा बालक इंजन बन जाता है और बाकी सब डब्बे का काम करते हैं।

विचारात्मक सामूहिक खेल—विचारात्मक सामूहिक खेल दो प्रकार के होते हैं एक **सह-खेल** और दूसरा **प्रति-खेल**। सह-खेल में बालक दूसरे बालकों की नकल मात्र नहीं करता, उसका जो पार्ट है उसी के अनुसार काम करता है। इससे उसकी आविष्कारात्मक बुद्धि बढ़ती है। यह खेल ५-६ वर्ष की आयु तक के बालक नहीं खेल सकते, क्योंकि उनकी कल्पना तब तक इतनी प्रखर नहीं हो पाती। इस प्रकार के खेलों के लिये कुछ विकसित कल्पना और बुद्धि की आवश्यकता होती है। न्यायाधीश और सिपाही का खेल इसी प्रकार का खेल है। हरएक बालक को इसमें विचार करना पड़ता है कि वह क्या करे। इस प्रकार के खेल से बालकों की बुद्धि बढ़ती है। अतएव हमें चाहिए कि हम उन्हें इस प्रकार के खेल खेलने के लिये प्रोत्साहित करें। फ्रोबुल महाशय की किंडर गार्टेन शिक्षा-प्रणाली में ऐसे अनेक प्रकार के खेल खेले जाते हैं।

प्रति-खेल सह-खेल से भी अधिक कठिन होते हैं। इनमें बालक को अपने दल के साथी से मिलकर ही नहीं खेलना पड़ता, वरन् उसको यह भी विचार करना पड़ता है कि वह अपने विरोधी से किस प्रकार बर्ताव करे। अपने कार्य से वह अपने दल की जीत चाहता है और विरोधी दल की हार। ऐसे खेलों में तीव्र बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। आगे हम इस प्रकार के कुछ खेलों का वर्णन करेंगे।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

खेल और शिक्षा

बालकों के जीवनोपयोगी खेल—ऊपर कहा जा चुका है कि खेलों द्वारा बालक का जीवन अनेक प्रकार से विकसित होता है। खेल शिक्षा का साधन बनाया जा सकता है। आधुनिक काल में ऐसे कई एक खेलों का आविष्कार हुआ है जिनके द्वारा न केवल बालकों के अंगों की पुष्टि होती है, बल्कि उनमें अनेक प्रकार के मानसिक गुणों का विकास होता है और संगठित होकर काम करने की शक्ति आती है। भारतवर्ष के पुराने खेलों का अब लोप हो गया है और हमारे ग्रामीण बालकों में किसी प्रकार के नए खेलों का प्रचार नहीं हुआ। अतएव इस देश के बालकों में उन समाजोपयोगी गुणों का विकास नहीं होता जो योरप के बालकों में पाए जाते हैं।

गेंद का खेल—बालकों को गेंद का खेल बहुत पसंद है। दूसरे देशों में इसका खूब प्रचार है। हमारे देश में यह प्राचीन काल से चला आता है। जब कृष्णजी की गेंद खेलते-खेलते यमुना नदी के कालीदह में गिर गई तब वे उसमें कूद पड़े और उसे बड़ी कुशलता के साथ निकाल लाए। इस साहस को देखकर उनके साथी विस्मित हो गए और उनके पौरुष की प्रशंसा करने

लगे। वास्तव में सामाजिक खेलों का यही उपयोग होता है कि बालक को आत्म-प्रदर्शन का सबसे अच्छा अवसर मिलता है।

आधुनिक काल के गेंद के खेल कई प्रकार के हैं। जैसे फुट-बाल, वाली बाल, क्रिकेट, हाकी, रिग्बी, पोलो इत्यादि। इन सभी खेलों में बड़े संगठन की आवश्यकता है। इन खेलों से बालक का शारीरिक परिश्रम तो होता ही है, साथ ही साथ उसमें फुर्तीलापन, चित्त की एकाग्रता, नियम-पालन, सहनशीलता, सहानुभूति, मानसिक दृढ़ता इत्यादि गुणों की वृद्धि होती है। बालक जब खेलों में दत्तचित्त हो जाता है तब उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती। वह ऐसे अनेक साहस के काम कर डालता है जिनका साधारण अवस्था में किया जाना संभव नहीं। एक दल के सब बालक एक कप्तान की आज्ञा मानते हैं। प्रत्येक बालक अपने दल की जीत की कोशिश करता है और दल के हित के लिये अपने व्यक्तित्व को प्रथम स्थान देने का प्रयत्न नहीं करता। इससे उसके जीवन में समाज-भाव की नींव पड़ती है। दोनों दलों के बालक एक नियामक (रेफ्री) का कहा मानते हैं।

यह प्रवृत्ति समाज-संगठन के लिये परमावश्यक है। अँगरेजी में कहावत है कि वैलिंगटन ने वाटरलू की लड़ाई इटन के खेल के मैदानों में जीती थी। इसका तात्पर्य यह है कि वैलिंगटन के चरित्र में अपने स्कूल के खेलों से उन गुणों का विकास हुआ था जिनके कारण वह वाटरलू की लड़ाई में नेपोलियन पर विजय पा सका। इस कथन से बालकों के जीवन-विकास में उपर्युक्त सामाजिक खेलों का महत्व स्पष्ट है।

स्काउटिंग

स्काउटिंग एक ऐसा खेल है जो बालकों के जीवन में कई

प्रकार से लाभदायक सिद्ध हुआ है। अतएव उसके विषय में हम कुछ विस्तारपूर्वक कहेंगे।

बेडिन महाशय ने इस खेल का आविष्कार किया था। उन्होंने इस खेल के द्वारा बालक को जीवनोपयोगी सब प्रकार की शिक्षा देने का प्रयत्न किया है। इसमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रकाशित होने का अवसर दिया जाता है। इससे उसके शारीरिक और मानसिक बल की वृद्धि भली भाँति होती है। बालक में अनेक समाजोपयोगी आदतें स्काउटिंग से आती हैं और उसके नैतिक जीवन का विकास होता है।

सद्गुणों का विकास—बालक को अनेक प्रकार का शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है। वह अनेक ऐसे खेल खेलता है जिससे शारीरिक परिश्रम पर्याप्त मात्रा में हो जाता है। साथ ही साथ यह परिश्रम ऐसा है जिससे समाज का लाभ हो तथा व्यक्ति को भविष्य में कोई हानि न पहुँचे। स्काउटिंग के अनेक प्रकार के खेलों से ऐसे गुण व्यक्ति में आते हैं जिससे वह सामाजिक जीवन बिताने में सफल होता है। डंड बैठक करने वालों का शरीर अवश्य मजबूत हो जाता है पर उनमें फुर्ती नहीं आती। स्काउटिंग शरीर को फुर्तीला बनाने के लिये अत्यंत उपयोगी है। हम स्काउट बनकर सब काम सहयोग से करते हैं। हमारी कसरत भी सहयोग से होती है। हमारा अछूत-भाव मन से दूर हो जाता है और प्रेम-भाव उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि बालकपन के संस्कार चिरस्थायी होते हैं। उनका हमें ज्ञान न होते हुए भी वे हमें प्रौढ़ावस्था में अनेक प्रकार से प्रभावित किया करते हैं। वास्तव में मनुष्य के चरित्र का बीजारोपण इसी समय होता है। अतएव मनुष्य कोसमाज-प्रिय बनाने के लिये स्काउटिंग बहुत उपयोगी है।

व्यवहारिक ज्ञान की वृद्धि—स्काउटिंग द्वारा बालक का वास्तविकता से परिचय होता है और उसकी बुद्धि विकसित होती है।

अनेक ऐसे बालक हैं जो हजारों रुपयों के ब्याज का हिसाब और अनेक प्रकार के क्षेत्रफल इत्यादि के प्रश्न ठीक-ठीक हल कर लेते हैं, पर वे अकेले जाकरबाजार से दस रुपए का सामान नहीं खरीद सकते। इसी तरह भारतवर्ष का पूरा भूगोल याद करके भी जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक बिना किसी संरक्षक के नहीं जा सकते, वे चाहे परीक्षा में प्रथम श्रेणी में ही क्यों न उत्तीर्ण हों, क्या हम यह कह सकते हैं कि उनकी बुद्धि का विकास उचित रूप से हो गया है? स्काउटिंग अनेक प्रकार के व्यवसायों में बालकों को लगाता है और उन्हें संसार की छोटी-छोटी बातों का ज्ञान कराता है। अतएव यह बुद्धि-वर्द्धन का परम साधन है।

जब बालक अपना घर छोड़कर अपने जत्थों के साथ बाहर जाते हैं तब उन्हें ऐसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं जो वे अपने माता-पिता की रक्षा में रहने के कारण कभी न करते। जैसे भोजन के लिये सामग्री एकत्र करना, अनेक चीजें खरीदना, दूसरों के साथ उपाय ढूंढ़ निकालना, इत्यादि। ये सब कार्य बुद्धिविकास के लिये बहुत उपयोगी हैं और इन्हें बालक बड़े आनंद के साथ सीख जाता है। स्काउटिंग में अनेक प्रकार के ऐसे कार्य हैं जिनसे बालक के जीवन में कई सुंदर आदतें सहज ही बन जाती हैं। सादगी से रहना, स्वच्छ रहना, समय पर काम करना, बड़ों का सम्मान करना, सच बोलना, अपनी सेवा दूसरों से न कराना, दूसरों की सेवा करने में तत्पर रहना, ये सब गुण ऐसे हैं जो हरएक व्यक्ति के जीवन को

मूल्यवान् बनाते हैं; और स्काउटिंग के द्वारा ये सहज में प्राप्त हो जाते हैं।

कल्याणकारी प्रवृत्तियों का सदुपयोग—स्काउटिंग बालकों की उन प्रवृत्तियों का निवारण बड़ी सुंदर रीति से कर देता है जो उसके भविष्य जीवन को दुखी बनाती हैं और जिनके कारण समाज उनका अनादर करने लगता है। इन प्रवृत्तियों की शक्ति स्काउटिंग द्वारा उपयोगी कार्यों में लगा दी जाती है; समाज का अहित करने वाली भावनाएँ अपना भयंकर स्वरूप दिखा ही नहीं पातीं। वास्तव में हम बालक की प्रवृत्तियों को जान कर उन्हें सन्मार्ग में लगाकर ही उसका कल्याण कर सकते हैं।

स्काउटिंग की व्यापकता—स्काउटिंग संसार के प्रत्येक देश में किसी न किसी रूप में प्रचलित है। योरप तथा अमेरिका में तो अच्छे-अच्छे स्काउटिंग के संघटन मौजूद हैं। हरएक देश ने उनको अपनी राष्ट्रीय संस्था बनाने की कोशिश की है। स्काउटिंग बेडेन पावल महाशय द्वारा आविष्कृत हुई है जो अँगरेज हैं, अतएव दूसरे देश के लोगों ने उसका रूप बदलकर उसे राष्ट्रीय रूप दिया है जिससे लोग यह न महसूस कर सकें कि हम अँगरेजों की नकल कर रहे हैं,। इटली में इसे 'बलीली बलीला मूवमेंट, कहते हैं। बलीला एक वीर बालक था जो आस्ट्रिया के साथ युद्ध करने में छोटी उम्र में मारा गया था। मुसोलिनी ने इतिहास से इसका नाम ढूंढ़ निकाला और इस संस्था को बलीला नाम दे दिया। जर्मनी में इस संस्था को 'वांडर बोगल' कहते हैं। इस समय यह संस्था समाज-सेवा का एक अंग बन गई है। वे लोग बड़े वीर और साहसी हैं। इनके शिक्षक भी इनके लिये सब प्रकार का काम करने को तैयार रहते हैं। जब ये देश-भ्रमण करने जाते हैं तब अनेक प्रकार की कठिनाइयों का

सामना करते हैं और सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं। इनके शिक्षक इनको रास्ते-रास्ते शिक्षा देते जाते हैं।

नवीन शिक्षा प्रणालियों में खेल का स्थान

आधुनिक काल में अनेक ऐसी शिक्षा-प्रणालियाँ हैं जिनका उद्देश्य बालक को खेल द्वारा शिक्षा देना है।

किंडर गार्टन—इसमें सबसे पहला प्रयास जर्मनी के फ्रोबुल महाशय का था। इस शिक्षा-प्रणाली में बालक को खेल में भाषण करना, अक्षर लिखना और पढ़ना सिखाया जाता है। हमारे देश में भी किंडर गार्टन पद्धति के अनुसार वर्ण लिखने के तरीके निकाले गए हैं। बालकों को नाच, कूद और गाने में प्रोत्साहित किया जाता है। उन्हें अच्छी लगने वाली मनोरंजक कहानियाँ सुनाई जाती हैं और बालक उन कहानियों का अपने खेलों में अभिनय करते हैं।

इस शिक्षा-प्रणाली का यह उद्देश्य है कि बालक की स्फूर्तिमय क्रियाएँ बढ़ें। बालक दूसरों से प्रेरित होकर काम करना न सीखे बल्कि स्वतः प्रेरित होकर काम करे। वह जो कुछ काम करे वह रुचि के साथ करे। वास्तव में ऐसा ही कार्य चिरस्थायी होता है। फ्रोबुल बालकों की कल्पना को उनके आत्म-प्रकाशन का साधन बनाना चाहते थे। बालकों से कहानी कहलाना और उन कहानियों का अभिनय कराना बालक के स्वप्रकाशन का एक बड़ा सुंदर उपाय है। इसी प्रकार बालकों का नाचना, गाना, कूदना, दौड़ना इत्यादि क्रियाएँ उनकी स्फूर्ति को बढ़ाती हैं। ऐसे बालक आगे चलकर प्रतिभाशाली और तेजस्वी नागरिक बनते हैं।

मान्टेसोरी की प्रणाली—इटली की विदुषी मैडम मांटसोरी, एक नई शिक्षा-प्रणाली का निर्माण किया है, जिसने बालकों की स्फूर्ति बढ़ाने के सिद्धांत की समर्थक है। उसकी शिक्षा-प्रणाली में भी बालक पढ़ने लिखने की और समाज-व्यवहार की अनेक बातें खेल में सीख जाते हैं। श्रीमती मांटसोरी ने एक विशेष प्रकार की शिक्षा की सामग्री का आविष्कार किया है। इस सामग्री के द्वारा बालक की इंद्रियों का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता बढ़ाई जाती है। बालक की ज्ञानेंद्रियाँ मांटसोरी खेल की सामग्री से अपना काम योग्यता से करना सीखती हैं। साथ ही साथ बालक अपने हाथों को अनेक प्रकार से काम में लाता है और उसकी काम करने की योग्यता बढ़ती है। श्रीमती मांटसोरी अपने आविष्कार के पूर्व बेलजियम में सेगार्वन महाशय के साथ न्यून बुद्धि वाले बालकों की शिक्षा का कार्य करती थीं। इन बालकों को सूक्ष्म व्यायाम न देकर अधिकतर स्थूल पदार्थों का परिचय कराया जाता था उनकी ज्ञानेंद्रियाँ तीव्र की जाती थीं। स्थूल पदार्थों द्वारा ही उनकी विचार-शक्ति की वृद्धि की जाती थी। श्रीमती मांटसोरी ने सोचा कि जिस प्रकार न्यून बुद्धि वाले बालकों का ज्ञान स्थूल पदार्थों का परिचय कराने से तथा ज्ञानेंद्रियों को तीव्र करने से बढ़ाया जा सकता है उसी प्रकार शिशु का ज्ञान भी उसको स्थूल-पदार्थ खेलने को देकर और उसकी ज्ञानेंद्रियों को उपयोग में लाकर बढ़ाया जा सकता है। परंतु उन्होंने इस बात पर ध्यान रखा कि शिशु का ज्ञान-बर्द्धन उसकी स्फूर्ति के साथ हो। अतएव उन्होंने अपनी शिक्षा-प्रणाली की सब सामग्री ऐसी जुटाई जो बालक को आकर्षित करे और जिसके द्वारा वह अपनी खेल की इच्छा को तृप्त कर सके।

यदि हम किसी मांटसोरी स्कूल में जायँ तो देखेंगे कि कहीं बालक लकड़ी के टुकड़ों से सीढ़ी बना रहे हैं; कहीं कुछ बालक एक मीनार खड़ी कर रहे हैं; कहीं आँखमिचौनी का खेल हो रहा है; कोई बालक आँख बाँधे हुए दूसरे बालक को छूने की कोशिश करता है। कभी-कभी देखेंगे कि सब एकाएक हँस पड़े। बालकों के शोरगुल से अध्यापिका घबड़ाती नहीं। वह या तो चुपचाप बालकों की सब क्रियाओं को देखती है अथवा उन्हें उनके खेल का लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता देती हुई पाई जाती हैं। मांटसोरी स्कूल में पढ़ने से बालक कभी उकताता नहीं; वह सदा अपनी शिक्षा के काम में, जो उसके लिये खेल ही है, नित्य नवीनता दिखाता है।

डाल्टन पद्धति—अमेरिका की मिस पाराखर्स्ट ने एक नई शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया है जो डाल्टन प्लान के नाम से प्रसिद्ध है। इस पद्धति में भी बालकों की स्फूर्ति वा स्वतंत्रता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जिन सिद्धांतों पर शिशु के लिये मांटसोरी पद्धति का निर्माण हुआ उन्हीं सिद्धांतों पर डाल्टन पद्धति का। बालक इस पद्धति में शिक्षक द्वारा पशु के समान नियमित नहीं होता, वरन् अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार रोजरोज काम ले लेता है और उसे पूरा करके शिक्षक को देता है। अपने काम को पूरा करने में जहाँ शिक्षक की आवश्यकता पड़ती है उसी के लिये बालक शिक्षक के पास जाता और समस्याओं को हल कर लेता है।

यह शिक्षा-प्रणाली बालक को स्फूर्तिमय और स्वावलंबी बनाती है। बालक अपनी शिक्षा का भार अपने ऊपर ले लेता है। वह अपने कार्यों की विवेचना करता और प्रतिदिन आत्मोन्नति का उपाय सोचता है। उसमें बाहर से नियमित होने

का भाव हटकर आत्म-नियमन का भाव दृढ़ होता है। अर्थात इन प्रणालियों द्वारा उन सब मानसिक गुणों की बालक में अभिवृद्धि की जाती है जो उसे एक योग्य नागरिक बनाएँ।

बारहवाँ परिच्छेद

संवेग

हम पहले चार परिच्छेदों में बालकों की मूल प्रवृत्तियों के बारे में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। मूल प्रवृत्तियों का अबाध संबंध संवेगों से है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने तो मूल प्रवृत्तियों की व्याख्या ही इसी आधार पर की है कि प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का अटूट संबंध किसी एक संवेग से रहता है। अतएव अब हम यहाँ बालकों के संवेगों पर विचार करेंगे।

संवेगों का स्वरूप—हमारे मन में जो कोई वृत्ति उठती है उसमें संवेग का अंश भी रहता है। ऐसा कोई विषय-ज्ञान नहीं जिसके साथ कोई राग-द्वेष न लगा हो। राग-द्वेष स्वभाव से ही जीवन के साथ हैं। जिस प्रकार हमारे मन में ज्ञान और क्रिया का सदा संयोग रहता है उसी प्रकार संवेग का भी संयोग रहता है। मेगडूगल महाशय के अनुसार प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ एक संवेग भी रहता है। जब हमें किसी प्रकार का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के साथ कोई न कोई मूल प्रवृत्ति भी उत्तेजित हो जाती है और मूल प्रवृत्ति के उत्तेजित होने पर राग द्वेषात्मक वृत्तियाँ अर्थात् संवेग भी पैदा होते हैं। मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का इतना घनिष्ठ संबंध है कि हम उन्हें अपने विचार में एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। जब हमें भय

होता है तब भागने की प्रवृत्ति साथ रहती है। या यों कहा जाय कि अपनी जान की रक्षा करने की प्रवृत्ति, अर्थात् भागने की प्रवृत्ति के उत्तेजित होने से ही भय का अनुभव होता है। इसी तरह क्रोध और लड़ना एक साथ रहते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि संवेग शरीर में होने वाली क्रियाओं का फल है। इस विषय में जेम्स और लेंगे महाशय का एक सिद्धांत प्रसिद्ध है। वे कहते हैं कि हम सुखी या दुःखी इसलिये होते हैं कि सुख या दुःख की वैसी शारीरिक चेष्टाएँ करते हैं। उनके अनुसार हमारे रोने का कारण दुःख नहीं है, वरन् दुःख का कारण रोना है। हम दुःखी इसलिये होते हैं कि रोते हैं और प्रसन्न इसलिये होते हैं कि हँसते है। यदि रोने को दुःख से और हँसने को प्रसन्नता से अलग कर दिया जाय तो दुःख और प्रसन्नता भी विलीन हो जायँगी।

दूसरे कई मनोवैज्ञानिकों ने यह दिखलाया है कि स्वतंत्र रहने वाली स्नायुओं की प्रक्रियाओं का कार्य ही संवेग है। हमारे शरीर में अनेक ग्रंथियाँ (glands) हैं, जो समय-समय पर उत्तेजना पैदा करती रहती हैं। इनमें थ्यारेक्स तथा एड्रिनल ग्रंथियाँ प्रधान हैं। जब संवेगों का अनुभव होता है तो इन ग्रंथियों का भी विशेष कार्य आरंभ होने लगता है। अतएव यह समझा गया है कि संवेग इन्हीं ग्रंथियों की प्रक्रिया का फल है।

उपर्युक्त कथन की सत्यता में स्टाउट, मेगडूगल आदि मनोवैज्ञानिक विश्वास नहीं करते। और न हमें विश्वास करना आवश्यक है। पर इतना तो अवश्य है कि संवेगों और शारीरिक प्रक्रियाओं में तात्विक संबंध है। दुबले पतले आदमी को अधिक क्रोध आता है। और अधिक क्रोध का आना किसी मनुष्य को सुखा देता है। इस प्रकार भय से हृदय-कंपन होता

है और हृदय-कंपन वाले व्यक्ति को भय अधिक सताता है जहाँ स्वाभाविक भय नहीं होता वहाँ मन कल्पित भय पैदा कर लेता है। जो बालक शरीर से बलवान् और स्वस्थ रहता है उसे क्रोध या भय नहीं होता। उपनिषद् में कहा है "नऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यते" अर्थात् बलहीन को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। कारण, उसके मन में तीव्र संवेगों को रोकने की शक्ति ही नहीं रहती; और इसलिये वह स्थिरता से विचार नहीं कर सकता।

संवेगों के प्रकार—संवेग कई प्रकार के होते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारी जितनी मूल प्रवृत्तियाँ हैं उतने ही संवेग हैं। उनमें मुख्य ये हैं—भय, क्रोध, करुणा या दया, प्रेम, ग्लानि, कामुकता, आत्महीनता, उत्सुकता या आश्चर्य, उत्साह और प्रसन्नता।

संवेगों के उपर्युक्त भेद नित्य और नैसर्गिक माने गए हैं। अतएव आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किसी भी संवेग को दूसरे संवेग का परिवर्तित स्वरूप नहीं मान सकते। पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि सब संवेगों में दो प्रकार की वृत्तियाँ सदा पाई जाती हैं। एक रागात्मक और दूसरी द्वेषात्मक। किसी संवेग के उठने पर सुख की अनुभूति होती है और किसी के उठने पर दुःख की। कोई-कोई मनोवैज्ञानिक यह कहते हैं कि हमारी मूल प्रवृत्तियाँ जब अपने प्रकट होने के मार्ग में अवरोध पाती हैं तब हमें दुःखात्मक संवेग पैदा होते हैं और जब वे सुगमता पाती हैं तब सुखात्मक संवेग होते हैं। हमारी प्रत्येक मनोवृत्ति में दुःख और सुख की अनुभूति सदा रहती है और जब दुःख या सुख की मात्रा किसी मनोवृत्ति में अधिक हो जाती है तब वह संवेग का रूप धारण कर लेती है।

स्थायी भाव—किसी भी वस्तु के प्रति किसी प्रकार का बार-बार अनुभव करने से उस वस्तु के प्रति एक स्थायी भाव पैदा हो जाता है। इन स्थायी भावों में प्रायः कई संवेगों का संमिश्रण रहता है। जैसे श्रद्धा में भय और प्रेम का संमिश्रण रहता है, लज्जा में प्रेम और आत्महीनता का तथा घृणा में क्रोध और ग्लानि का। संवेग और स्थायी भाव में कारण-कार्य का संबंध अवश्य है; पर हमें यह याद रखना चाहिए कि किसी प्रकार का भी संवेग हमें किसी वस्तु के प्रति हो सकता है, और फिर उसी वस्तु के प्रति विपरीत संवेग उत्पन्न हो सकता है। जैसे एक ही मनुष्य के प्रति हम कभी प्रेम का, कभी क्रोध का और कभी भय का प्रदर्शन कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति हमारा सहायक है, हमारे स्वार्थों की पूर्ति करने में सहायता देता है, तो हम उससे प्रेम करते हैं; हम उसका कल्याण चाहते हैं। जब वह बाधा डालता है तब हमारा संवेग उसके प्रति क्रोधात्मक होता है। फिर हम उसका कल्याण न चाहकर उसको हानि पहुँचाने की चेष्टा करने लगते हैं। पर यदि ऐसा व्यक्ति हमसे बहुत ही बलवान हो तो हम उससे डरते हैं और बचने की चेष्टा करते हैं। उसकी चेष्टाओं के प्रतिकार का उपाय न सोचकर हम उससे भागने का प्रयत्न करते हैं। पर स्थायी भाव में ऐसी बात नहीं है। स्थायी भाव जिस व्यक्ति के प्रति जैसा होता है उसके प्रति वैसा ही बना रहता है। जिसके प्रति हमें श्रद्धा है उसके प्रति घृणा का होना संभव नहीं। ऐसा परिवर्तन होने के लिये अधिक काल की आवश्यकता है। स्थायी भाव स्थिर रहते हैं और संवेग चंचल होते हैं।

हमें दूसरी यह बात स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रत्येक संवेग के साथ किसी विशेष विषय का निश्चित संबंध नहीं,

पर स्थायी भावों के साथ ऐसा निश्चित संबंध अवश्य है। स्थायी भाव के लिये विशेष विषय का होना अनिवार्य है; जैसे प्रेम और भक्ति को लीजिए। प्रेम एक संवेग है जो किसी वस्तु के प्रति प्रदर्शित किया जा सकता है; पर भक्ति उस प्रदर्शन का फल है, और उसके साथ विशेष पदार्थ का रहना आवश्यक है। जब हम किसी मनुष्य के बारे में यह कहते हैं कि अमुक मनुष्य में भक्ति और श्रद्धा की मात्रा अधिक है तब मनोविज्ञान की दृष्टि से भाषा का अनुचित प्रयोग करते हैं। जिस व्यक्ति में एक पदार्थ के प्रति भक्ति और श्रद्धा हो उसी व्यक्ति में उसके विपरीत उतने ही दृढ़ स्थायी भाव किसी दूसरे पदार्थ के संबंध में हो सकते हैं। भगवान् की भक्तिवाला पुरुष भगवान् के निंदकों से वैसी ही कड़ी दुश्मनी रखता है जैसी कि उसकी भगवान् के प्रति भक्ति है।

कोई भी स्थायी भाव अनेक प्रकार के संवेगों का उद्गम स्थान होता है। जो व्यक्ति देशभक्त है, वह जब अपने देश के लोगों को दुखी देखता है तब उसके हृदय में करुणा उत्पन्न हो जाती है; जब उसे संकट में देखता है तब भय होता है और जब किसी समाज और जाति को उसका अहित करते देखता है तब उसके प्रति क्रोध होता है। इस तरह अनेक संवेगों की उत्पत्ति एक ही स्थायी भाव से हो जाती है।

स्थायी भाव किसी वस्तु-विशेष, व्यक्ति-विशेष अथवा किसी भावना-विशेष के प्रति होते हैं। स्थायी भावों का विकास धीरे-धीरे होता है। हमारा मन स्थायी भावों का संग्रह मात्र है। कोई-कोई स्थायी भाव हमारे जीवन के लिये हितकारी होते हैं और कोई-कोई अहितकर। बाल्यकाल ऐसा समय है जब अनेक प्रकार के स्थायी भावों की जड़ जमती है। यदि

अहितकर स्थायी भावों की इस समय अधिकता हुई तो मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है।

बालकों के जीवन में संवेगों का स्थान

बालकों के संवेग अधिक काल तक नहीं ठहरते। जिस प्रकार बालक का ध्यान चंचल होताहै उसी प्रकार उसके संवेग भी चंचल होते हैं। संवेगों का मन में आना एक ऐसी स्वाभाविक बात है जिसे कोई भी नहीं रोक सकता। अब अभिभावकों का कर्तव्य यहाँ यह है कि उचित वस्तुओं के प्रति ही किसी विशेष प्रकार के संवेग बालक के हृदय में आने दें। जब किसी प्रकार की उत्तेजना बालक के हृदय में आ जाय तब उसे रोकने से बालक के व्यक्तित्व को बड़ी हानि पहुँचती है। हाँ, उस उत्तेजना का विषय बदल दिया जा सकता है। उत्तेजना-रहित बालक निस्तेज होता है। जिस प्रकार संवेगों से मुक्त पुरुष संसार के किसी काम का नहीं होता उसी प्रकार जिस बालक के मन में उचित परिस्थिति में योग्य संवेग पैदा नहीं होता उससे समाज को कोई आशा न करनी चाहिए। पर ऐसी अवस्था अस्वाभाविक है और यह बालकों के अत्यधिक दमन से ही उत्पन्न होती है।

संवेगों का एक नियम यह है कि एक बार जब मन में किसी प्रकार का संवेग पैदा हो जाता है तब उसके सिलसिले में अनेक संवेग (रागात्मक वा द्वेषात्मक) आते जाते रहते हैं। अर्थात् मन में किसी संवेग की उत्तेजना होने पर यह आवश्यक नहीं कि वही संवेग स्थिर रहे। उसके विपरीत संवेग भी उसी वस्तु के प्रति हो सकता है। अनुकूल संवेग की जगह प्रतिकूल संवेग आ जाता है;प्रेम का स्थान विकर्षण और क्रोध का स्थान भय इत्यादि ले लेते हैं। प्रेम, विकर्षण, क्रोध, भय इत्यादि वृत्तियाँ एक के बाद

एक, एक ही पदार्थ के प्रति आ सकती हैं। यदि एक पदार्थ के प्रति सदा एक से संवेग रहें तो मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो जाय क्योंकि हमारे जीवन का कार्य इन संवेगों के बदलने से ही चलता है। अभिभावकों का कर्तव्य है कि संवेगों को कुचलकर बालकों का जीवन नीरस न बना दें। हमें चाहिए कि उन्हें उनका सदुपयोग करना सिखाएँ। बालपन की सजीवता इस बात में ही है कि बालक के संवेग तीव्र रहें। हो सकता है कि मनुष्य की एक अवस्था ऐसी आ जाय जब वह किसी भी संवेग का अनुभव न करे। पर ऐसा होना बालक के लिये न तो संभव है और न लाभदायक। बालक के बालक जैसा बने रहने में ही कल्याण है।

बालक के स्थायी भाव—ऊपर कहा जा चुका है कि संवेगों की अनुभूति से अनेक प्रकार के स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं। बालकों के अभिभावकों और शिक्षकों का कर्तव्य है कि यदि किसी वस्तु के प्रति किसी विशेष स्थायी भाव के बन जाने से बालक के जीवन को हानि पहुँचती है तो वे ऐसे स्थायी भाव उनके जीवन में कदापि न बनने दें। बालक जिन बालकों के साथ सदा रहता है उनके प्रति उसका मित्रभाव अवश्य पैदा हो जाता है। हमें बालकों को भला बनाने के लिये दूसरे बालकों की मित्रता से उन्हें वंचित रखना उचित नहीं। ऐसा करने से उनके व्यक्तित्व का कुछ भी विकास नहीं हो सकता। हमें इतना अवश्य देखना चाहिए कि बालक के साथी ऐसे रहें जिनकी आदतें भली हों। पर साथ ही उनसे यह कहना कि 'तुम अच्छे बालकों का साथ करो' निरर्थक ही नहीं, कहीं-कहीं हानिप्रद भी होता है। बालक में पहले तो अच्छे बुरे का ज्ञान ही नहीं होता है। बालक जब सदा द्वेष की दृष्टि से अपने साथी को देखेगा तब उसकी किसी के साथ भी मित्रता न होने पाएगी। वह स्वयं घमंडी हो

आयगा। अपने आपको बड़ा मानना और दूसरों के गुणों को न देख सकना भी एक प्रकार की मानसिक बीमारी है जिसकी जड़ बाल्यकाल में ही जम जाती है। ऐसा अधिकतर प्रेम के अभाव में होता है, और यह बात अभिभावकों की अज्ञानता का फल है।

जिस प्रकार हमें बालकों के मन में मित्रता का भाव उत्पन्न कराना उचित है उसी प्रकार बड़ों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराना चाहिए। माता पिता के प्रति बालकों में स्वाभाविक श्रद्धा होती ही है। माता की श्रद्धा में प्रेम का आधिक्य होता है और पिता की श्रद्धा में भय का। इस प्रकार की श्रद्धा की नींव पर ही नैतिकता की सुदृढ़ इमारत खड़ी की जा सकती है।

जनसाधारण बड़े-बड़े धर्मग्रंथों से नैतिक जीवन के नियम नहीं सीखते। वे सदा संसार के प्रतिष्ठित लोगों का आचरण ही देखते हैं[1] जिस समाज में सदाचारी व्यक्तियों की ओर श्रद्धा नहीं रहती वह नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। किसी भी व्यक्ति के बाल्य जीवन में ही हम उन सब वस्तुओं के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न कर सकते हैं जो उसका कल्याण करने वाली हों। जब मनुष्य के हृदय में एक पदार्थ अथवा एक व्यक्ति के प्रति श्रद्धा-भाव या प्रेम-भाव उत्पन्न हो जाता है तब फिर उसी भाव को दूसरी वस्तु के प्रति लगा देना सरल होता है। मातृभक्ति मातृभूमि की भक्ति में परिणत की जा सकती है और पिता के प्रति श्रद्धा

1—अरस्तू महाशय ने कहा है कि जनसाधारण के लिये नैतिकता का प्रमाण अच्छे लोगों का आचार-व्यवहार ही होता है। श्री व्यास जी कहते हैं—

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

ईश्वर-श्रद्धा में। जनता की ईश्वर-भक्ति को लोग राजभक्ति में परिणत कर लेते हैं और ईश्वर-भय को राज-भय में।[1]

माता-पिता और शिक्षकों का कर्तव्य

माता-पिता और शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालकों के मन में अनुचित भय, अनुचित वैर-भावना, अनुचित प्रेम वा भक्ति उत्पन्न न होने दें। जब बालक किसी विशेष व्यक्ति के प्रति अनेक बार क्रोधित होता है और उससे भय खाता है तो उसके अव्यक्त मन में वह भाव सदा के लिये स्थान पा लेता है। हमें बालक को बार-बार चिढ़ाना न चाहिए, न सदा उसकी नुक्ताचीनी करनी चाहिए। यदि हम उसकी सहानुभूति और प्रेम चाहते हैं तो हम ऐसा काम करें जिससे उसके हृदय में हमारे प्रति प्रेम का संवेग उत्पन्न हो। समय समय पर हमें उसकी प्रशंसा करनी चाहिए तथा सब तरह से हमें उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करना चाहिए।

पाठक जानते होंगे कि शिवाजी को उनकी माता और गुरुओं ने कैसा लोकोपकारी धर्मरक्षक और देशभक्त व्यक्ति बनाया। यदि हमें बालक को देशभक्त बनाना है तो हमें चाहिए कि हम

१—सन् १७८९ में फ्रांस में क्रांति हुई और लोगों ने अपने राजा को १७९२ में मार डाला। उसके बाद उस देश के उस समय के अधिकारियों ने गिरजाघर और मूर्तियाँ भी तोड़ डालीं। उनका कथन था कि हम पृथ्वी के स्वेच्छाचारी राजाओं से तब तक मुक्त न होंगे जब तक कि स्वर्ग के राजा को हम गद्दी से न उतार दें।

नेपोलियन कहा करता था कि यदि ईश्वर कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है तो हमें एक ईश्वर का आविष्कार करना होगा जिससे कि हम जन-साधारण को काबू में रख सकें।

उसे अपने देश के वीरों की गाथा सुनाएँ। राम, कृष्ण, भीष्म-पितामह अशोक इत्यादि महापुरुषों की जीवनी बालकों को भली भाँति सुनाना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव है कि वह बड़ों पर श्रद्धा करता है। यदि हम अपने देश के महापुरुषों की चर्चा करेंगे तो उनके प्रति बालक के हृदय में श्रद्धा होगी; जब हम विदेश के महापुरुषों की चर्चा करते हैं तब उनके प्रति ही श्रद्धा होती है। इसी तरह हमें देश की प्रशंसा के गीत गाना चाहिए। यदि 'वंदेमातरम्' का गीत भावपूर्वक प्रतिदिन बालकों से स्कूलों में गवाया जाय तो अवश्य ही देश के प्रति बालकों के हृदय में देश-प्रेम उत्पन्न हो जायगा। इसी तरह सदा भारत माता का चित्र देखना भी बालकों के हृदय में देशभक्ति उत्पन्न करता है। भारत माता का चित्र अपने सामने रखना, सच्चे नेताओं के गुणगान करना, उनकी आत्मकथा कहना इत्यादि बातें देशभक्ति का भाव उत्पन्न करती हैं।

पर वास्तव में देशभक्ति तो तभी पैदा होती है जब देश के लिये कुछ कार्य किया जाय। बालचर शिक्षा इस बात में बड़े महत्व का कार्य कर रही है। देशाटन तथा गरीबों और पीड़ितों की सहायता करने से बालक के हृदय में देशभक्ति स्थायी रूप से स्थान ग्रहण कर लेती है। हमें यह न सोचना चाहिए कि बालक के कार्य का महत्व ही क्या। वास्तव में बाहरी परिणाम से किसी कार्य की महानता को तौलना हमारी भारी भूल है। हमें आंतरिक भावना को देखना चाहिए। बालकों के उत्साह की ओर लक्ष्य रहना चाहिए। जो कार्य प्रौढ़ावस्था के लोगों के लिए छोटा होता है वही बालकों के जीवन में विशेष महत्व का स्थान रखता है।

इंगलैंड, जर्मनी, और इटली आदि देशों के नवयुवकों में

जागृति उत्पन्न करने में बालचर-संघ ने जो कार्य किया है वह सबको विदित ही है। जर्मनी की सेना की तैयारी बालचर-संघ से ही हुई और उसी से वहाँ देशभक्ति का प्रचार हुआ। जब शिक्षक किसी विषय को पढ़ाए तो उसे अपने देश का गौरव साथ-साथ बताते रहना चाहिए। इतिहास, साहित्य और भूगोल इसमें विशेष उपयोगी हैं। तुलनात्मक रूप से इसी प्रकार विदेशों की बातचीत करने से भी देशभक्ति का स्थायी भाव दृढ़ होता है और बालक एक देशोपयोगी नागरिक बन जाता है।

अब हम कुछ दुःखदायी संवेगों वा स्थायी भावों के विषय में लिखेंगे जिनसे हमें बालक को बचाना है।

तेरहवाँ परिच्छेद

बालकों का भय

भय का स्वरूप—भय एक प्रकार का मानसिक संवेग है। इस संवेग की उत्पत्ति उस समय होती है जब कि प्राणी को किसी प्रकार की हाँनि पहुँचने की संभावना हो। इस संवेग का साथ सदा भागने की प्रवृत्ति से रहता है। भय के कारण प्राणी अपनी आत्म-रक्षा करने की चेष्टा करता है। साधारणतः भय की अवस्था में मनुष्य साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकता है। पर जब भय की मात्रा अधिक हो जाती है तब वह मनुष्य की शक्तियों को शिथिल कर देता है। अधिक भय बढ़ जाने से प्राणी अपने बचाव का उपाय न सोचकर उलटा नाश की ओर अग्रसर होता है।

भय का प्रकार—भय दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और अर्जित। स्वभावतः बालक बहुत थोड़ी वस्तुओं से डरता है। बच्चे के भय की प्रथम वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो बहुत बड़ी हैं अथवा जिनसे बालक बिलकुल अपरिचित है। बालक जोर से होने वाले शब्दों से डरता है परंतु जन्म से अंधकार को नहीं डरता। धीरे धीरे बालक ऐसी अनेक चीजों से डरने लगता है जो उसे हानिकर विदित होती हैं। जैसे जैसे बालक का अनुभव

बढ़ता है वैसे वैसे उसके भय के विषय भी बढ़ते जाते हैं।

अर्जित भय के कारण—बालक के मन में अनेक प्रकार के भय दो तरह से स्थान पाते हैं। एक तो अनुभव से और दूसरे माता-पिता की बातचीत से। जब बालक जलते हुए दीप को देखता है तब वह उसकी ओर उसे पकड़ने के लिये वेग से जाता है। वह उसे पकड़ने का प्रयत्न करता है, पर ज्योंही उसको पकड़ता है, उसका हाथ जल जाता है। अब जो वस्तु आकर्षण का विषय थी वह भय का कारण हो जाती है। इसी प्रकार संसार के अनेक प्रकार के पदार्थों से बालक डरने लगता है। कुछ काल के बाद किसी भी अपरिचित स्थिति में पड़ने से बालक भय का अनुभव करता है। इस प्रकार के भय का होना बालक के जीवन में अति आवश्यक है। यदि बालक अपरिचित व्यक्तियों तथा वस्तुओं से न डरे तो वह अपना विनाश शीघ्र ही कर ले।

बालक के जीवन में अनेक प्रकार के भय माता-पिता की असावधानी और अज्ञान के कारण आ जाते हैं। जब बालक रोता है तब उसे चुप करने के लिये माताएँ प्रायः बालक को अनेक प्रकार से डराती हैं। इसी तरह किसी हठ को छुड़ाने के लिये भी बालक को डराया जाता है। बालक इस प्रकार अनेक ऐसी चीजों से डरने लगता है जिनसे उसे डरना न चाहिए। इस प्रकार का भय बालक के हृदय में बैठाना उसके व्यक्तित्व की भारी हानि करना है। जो धनी माता-पिता अपने बच्चों को दाइयों के भरोसे छोड़ देते हैं वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि दाइयों के हृदय में कहाँ तक दूसरे के बालक के प्रति प्रेम हो सकता है। रूसो का यह कथन सर्वथा सत्य है कि एक अच्छी दाई अवश्य बुरी माँ होगी और जो बुरी माँ है वह कहाँ तक अच्छी दाई हो सकती है? अर्थात् जो स्वाभाविक प्रेम माता का

अपने बालक के प्रति होता है वह दाई के हृदय में कैसे पैदा हो सकता है ? अतएव दाइयाँ बालक को चुप करने के लिये अथवा उसका हठ मिटाने के लिये यदि भय का प्रयोग करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? फिर दाइयों को बालक के पालन-पोषण की शिक्षा कौन देता है ? वे भला कब शिक्षित माताओं के समान बालक का पालन कर सकती हैं ? बालक के मनोविकास में शिक्षित माँ जो कार्य कर सकती है वह एक दाई कदापि नहीं कर सकती।

यह दुर्भाग्य की बात है कि बालक का महत्वपूर्ण जीवन प्रायः मूर्ख लोगों की संगति में जाता है। जो माताएँ गरीब और अपढ़ हैं वे तो अपने बच्चों की देख रेख करती है और जो शिक्षित हो जाती हैं वे बालक को अपढ़ दाइयों के सुपुर्द कर देती हैं। जिन माताओं और दाइयों को बालमन की सूक्ष्म क्रियाओं का ज्ञान नहीं रहता वे बालक के हृदय में अनेक प्रकार के भय अपनी बातचीत और किस्सा-कहानियों द्वारा पैठा देती हैं। इसका परिणाम बालक के भावी जीवन के लिये बहुत बुरा होता है। बालक के अव्यक्त मन में अनेक बातों के लिये ऐसा भय बैठ जाता है कि वह बड़ा होने पर भी नहीं निकलता। भूत का भय इसी प्रकार का है। जिन बालकों को अनेक प्रकार की भूत की कहानियाँ सुनाई जाती हैं वे बड़े होने पर विचार-शक्ति के बढ़ने पर भी सदा भूतों से डरा करते हैं।

निरर्थक भय के निवारण के उपाय—जब बालक के हृदय में एक बार किसी बात के लिये भय बैठ जाता है तब उसे निकालना बड़ा कठिन कार्य होता है। माता-पिताओं का कर्तव्य है कि अनुचित भय को बालक के हृदय में स्थान पाने ही न दें। यदि कोई ऐसा भय स्थान पाए तो उसे बालक का ज्ञान और

अनुभव बढ़ाकर दूर करना चाहिए। निरर्थक भय का नाश ज्ञान की वृद्धि से होता है। पर जिस भय ने अव्यक्त मन में स्थान पा लिया है उसको ज्ञान की वृद्धि से भी हटाना कठिन होता है। ऐसा भय निर्भय लोगों की संगति से बहुत कुछ हट जाता है। हमारे साथ रहने वाले व्यक्तियों के संवेगों का प्रभाव हमारे संवेगों पर बहुत पड़ता है। जैसे संवेग उनके हृदय में आते हैं वैसे ही हमारे हृदय में भी आने लगते हैं। भयातुर पुरुषों के साथ रहने वाला व्यक्ति कायर हो जाता है और वीर पुरुषों के साथ रहने वाला व्यक्ति वीर बनता है। अतएव बालक को सदा उत्साही तथा स्वस्थ बालकों के साथ रखना चाहिए।

भय का नाश कार्यपरायणता से भली भाँति होता है। निकम्मे बालक के मन में अनेक प्रकार के भय अपने आप स्थान पा लेते हैं। यदि हम बालक को सदा उद्योग में लगाए रहें तो वह कभी डरपोक नहीं बन सकता। कार्य करने वाले व्यक्ति में एक प्रकार का आत्म-विश्वास पैदा होता है जिसके कारण कोई भय स्थायी रूप से मन में नहीं रह पाता। जो बालक पढ़ने लिखने में, खेल कूद में, स्काउटिंग तथा व्यायाम में अपना समय व्यतीत करता है उसके अनेक निरर्थक भय अपने आप नष्ट हो जाते हैं। भय आत्मा की दुर्बलता का सूचक है; आत्मा का बल बढ़ने से तथा आत्म-निर्भरता आने से बहुत से भय सहज में दूर हो जाते हैं।

चित्त-विश्लेषण विज्ञान और भय—आधुनिक काल में चित्त-विश्लेषण विज्ञान ने बालकों के अनेक प्रकार के भय निकालने में बहुमूल्य कार्य किया है। बालकों के अनेक भय काम-प्रवृत्ति के दुरुपयोग से पैदा होते हैं। फ्राइड महाशय के अनुसार प्रौढ़ लोगों के साँप और कीड़े मकोड़े संबंधी असाधारण

भय का कारण काम-विषयक भावना-ग्रंथि है। भय की भावना-ग्रंथि एक बार पैदा हो जाने पर वह अनेक प्रकार के भय का कारण बन जाती है। दाइयों तथा दूसरे नौकरों की बातचीत से बालकों के मन में कई ऐसे जननेंद्रिय संबंधी भय उत्पन्न हो जाते हैं जिनके कारण बालक का जीवन दुःखमय हो जाता है। कितने लोगों में मानसिक नपुंसकता इन्हीं भयों के कारण पैदा हो जाती है। काम-भावना और जननेंद्रिय संबंधी भय बालक के अव्यक्त मन में स्थान पा लेता है। जब बालक बड़ा होता है तब उसे इस भय का पता नहीं रहता। व्यक्त मन से यह भय सदा छिपा रहता है। अतएव ज्ञान की वृद्धि से उसका निवारण भी नहीं होता। अव्यक्त मन में रहकर वह अपना कार्य करता रहता है। इसके कारण मनुष्य उत्साह और हिम्मत के साथ कोई काम नहीं कर पाता। उसे सदा दब्बू बनकर रहना पड़ता है। चित्तविश्लेषण द्वारा कितने ही व्यक्तियों का इस प्रकार का भय निवारण किया गया है।

दमन का दुष्परिणाम—ऊपर कहा गया है कि बालकों का भीरु स्वभाव बालपन के कुछ बुरे संस्कारों के कारण हो जाता है। इनमें काम-वासना संबंधी संस्कार प्रधान हैं। पर इनके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के संस्कारों से भी बालकों का स्वभाव भीरु हो जाता है। जिस बालक की आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति का अनुचित रूप से दमन किया जाता है, जिसकी साधारण इच्छाएँ तृप्ति नहीं पातीं, जिसकी जिज्ञासा वा उत्सुकता निर्दयता के साथ कुचल दी जाती है, वह नई परिस्थितियों में पड़ कर साहस के साथ काम नहीं कर पाता। उसका हृदय दुर्बल हो जाता है और उत्साह क्षीण हो जाता है। बालक को बार बार दंड देने का भी यही दुष्परिणाम होता है।

जो माता-पिता और शिक्षक बालक को बात बात पर दंड देते हैं वे उसके हृदय को सदा के लिये कमजोर कर देते हैं। बालक को दंड देना तभी तक लाभदायक है जब तक वह दंड के कारण को समझे तथा उसे यह हिम्मत रहे कि वह अपने आपको उन कमजोरियों से मुक्त कर सकता है जिनके कारण उसे दंड मिल रहा है। जब बालक दंड से बचने की आशा छोड़ देता है तब दंड उसकी भारी आत्महानि करता है। दंड का लक्ष्य बालक के आचरण का सुधार होना चाहिए। जो दंड बालक के हृदय में भय मात्र पैदा करता है उससे बालक की हानि ही होती है, लाभ कुछ नहीं।

माता-पिता से जो बालक अधिक ताड़ना पाते हैं वे संसार में प्रतिभाशाली और ओजस्वी व्यक्ति नहीं बनते। ऐसे लोग हरएक व्यक्ति से डरा करते हैं। उनमें नई परिस्थितियों का सामना करने की हिम्मत नहीं रहती। उनका हृदय अज्ञात भय से सदा व्याप्त रहता है। हमें बालकों को निर्भयता की ओर ले जाना है। निर्भय बालक ही संसार का कल्याण कर सकते हैं। अतएव हमें चाहिए कि बालक को दंड देते समय भली भाँति दंड के औचित्य पर विचार करें।

भय और स्वास्थ्य—मनुष्य के मानसिक संवेगों का उसके स्वास्थ्य से घनिष्ठ संबंध है। भय और क्रोध दो ऐसे संवेग हैं जिनका प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य पर बहुत पड़ता है। जो व्यक्ति सदा भयभीत रहता है उसका मानसिक और शारीरिक बल नष्ट हो जाता है। इसी तरह क्रोधी मनुष्य भी अपना आध्यात्मबल और शारीरिक शक्ति नष्ट कर देता है। इन संवेगों से बालक को सदा बचाना चाहिए। बालक को जितना कम भयभीत होना पड़े उतना ही उसका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। जो बालक प्रेम

के वातावरण में पलता है उसका स्वास्थ्य सहज ही अच्छा रहता है। अतएव पवित्र और स्वस्थ वातावरण बालक के स्वास्थ्य के लिये उतने ही महत्व का है जितना कि बलकारी भोजन।

यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि अस्वस्थ बालक और प्रौढ़ व्यक्ति को निरर्थक भय अधिक सताया करते हैं। इस विषय में हमारा कर्तव्य है कि बालकों के स्वास्थ्य की रक्षा और उनके भोजन और व्यायाम का प्रबंध भली प्रकार से करें। इससे उनका हृदय सबल होगा और जो भय स्नायुओं की कमजोरी के कारण पैदा होते हैं, जाते रहेंगे।

चौदहवाँ परिच्छेद।

आदत

आदत की व्यापकता—मनुष्य का व्यक्तित्व आदतों का पुंज है। हमारे जीवन को सुखी या दुखी बनाने में हमारी आदतें ही कारण होती हैं। अच्छी आदतों वाला मनुष्य सद्गुणी कहलाता है तथा बुरी आदतों वाला दुर्गुणी। मनुष्य भली और बुरी आदतों का निर्माण अपने आप करता है और फिर उसे इन आदतों के वशीभूत होकर रहना पड़ता है। जिस व्यक्ति ने अपनी आदतें अच्छी बनाई हैं उसकी ये आदतें उसे अपने जीवन के कार्य में सहायक होती हैं और जिसने बुरी आदतें डाल ली हैं उस व्यक्ति की उन्नति में ये आदतें बाधक होती हैं। आदत को मनुष्य का दूसरा स्वभाव कहा गया है। वास्तव में हमारा स्वभाव हमारे अभ्यास पर निर्भर रहता है। जिसका जिस प्रकार का अभ्यास है उसका उसी प्रकार का स्वभाव बन जाता है।

आदत का स्वरूप—जब बालक पैदा होता है तब वह अपने जन्म के साथ एक प्रकार का स्वभाव लाता है। इस स्वभाव में बालक की मूल प्रवृत्तियाँ तथा माता-पिता के विशेष संस्कार सम्मिलित रहते हैं। मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्यमात्र की एक

ही प्रकार की होती हैं। पर किसी के व्यक्तित्व में जन्म से किसी विशेष मूल प्रवृत्ति का बल अधिक होता है और किसी के व्यक्तित्व में कम। अतएव सब मनुष्यों में एक ही प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ होते हुए भी उनके व्यक्तित्व में बड़े भेद होते हैं। भौतिक दृष्टि से इन भेदों का कारण परंपरा है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो इन भेदों का कारण मनुष्यों के पिछले जन्मों के अनेक संस्कार कहे जायेंगे।

मनुष्य का जन्म से जैसा भी स्वभाव हो उसका विकसित होना, उसमें परिवर्तन होना तथा उसका सुयोग्य बनना उस परिस्थिति पर निर्भर है जिसमें वह पला है, चलता फिरता है, शिक्षा पाता है तथा जीवन के अनेक कार्य करता है। जन्म से मनुष्य का कितना ही भला स्वभाव क्यों न हो, अनुकूल परिस्थितियाँ न मिलने पर वह बुरा से बुरा हो सकता है। इसका कारण अभ्यास है। हम जिस प्रकार की परिस्थितियों में रहते हैं, जो कार्य हम प्रतिदिन करते हैं, वे अपने संस्कार हमारे शरीर के स्नायुओं पर छोड़ जाते हैं। ये ही संस्कार हमारे नए स्वभाव बन जाते हैं। फिर हमारे कार्य इस नए स्वभाव के अनुसार होने लगते हैं। हमारी सब शारीरिक और मानसिक क्रियाएँ अभ्यास पर ही निर्भर रहती हैं। हमारा चलना, बोलना, जीविकोपार्जन के कार्य करना, लिखना, पढ़ना, तथा सोचना ये सब कार्य अभ्यास के द्वारा ही नियमित रहते हैं।

अभ्यास से प्राणियों की मूल प्रकृति में किस प्रकार परिवर्तन हो जाता है, यह विलियम जेम्स के दिए हुए एक उदाहरण से भली भाँति स्पष्ट होता है। सन् १८८४ में यूनाइटेड स्टेट्स के एक प्रदेश में रास्ते में चलती हुई एक रेलगाड़ी

गिर पड़ी। उस गाड़ी में एक सर्कस करने वालों का दल जा रहा था। इन लोगों के पास पिंजड़े में बंद एक शेर था। गाड़ी के गिरने से शेर का पिंजड़ा खुल गया और शेर उसके बाहर आ गया। बाहर आकर शेर इधर उधर भौचक्का सा होकर घूमने लगा। पर थोड़ी देर बाद वह फिर उसी पिंजड़े के भीतर घुस गया, मानो उसे अपनी स्वतंत्रता से भय लग गया हो। स्वतंत्रताप्रिय एक जंगली जानवर के स्वभाव में इतना परिवर्तन हो जाना अभ्यास का ही फल है।

जो कैदी अपना सारा जीवन कारागार में व्यतीत करते हैं उनके स्वभाव में इतना परिवर्तन हो जाता है कि वे बाहर आकर अपना जीवन सुख से नहीं बिताते। ऐसा अनेक बार हुआ है कि जो कैदी बूढ़े होने तक जेल में रहे उन्होंने जेल से छूटने पर फिर से जेल में भरती होने के लिये दरख्वास्त दी। उन्हें स्वतंत्र जीवन की जिम्मेदारियाँ भयदायक प्रतीत हुईं। यह अभ्यास और आदत का ही फल है।[1]

अभ्यास द्वारा हमारी अनेक शारीरिक क्रियाएँ अपने आप होने लगती हैं। जब दो चार सैनिक एक साथ चलते हैं तब उनके कदम अपने आप मिल जाते हैं। कई दिनों के ड्रिल के अभ्यास के कारण उनकी अनेक शारीरिक क्रियाएँ बिना मानसिक विचार के होने लगती हैं। एक फौजी सिपाही की एक मनोरंजक कथा प्रचलित है जिससे अभ्यास का परिणाम भली भाँति स्पष्ट होता है। एक पुराना फौजी सिपाही अपने भोजन की सामग्री

१—जिस देश के निवासी अधिक काल तक परतंत्र रहते हैं वे स्वाधीन रहने की योग्यता खो देते हैं। वे अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयत्न करना तो दूर रहा, स्वाधीनता मिलने की संभावना को भय रूप देखते हैं।

लेकर चला जा रहा था। एक मसखरे के मन में आई कि उसकी हँसी उड़ाए। जब वह एक दूकान के पास आया जहाँ कई लोग बैठे थे तब एकाएक उसने "होशियार" (एटेन्शन) शब्द कहा। ऐसा कहते ही सिपाही के दोनों हाथ नीचे आ गए और जो सामान वह ले जा रहा था, जमीन पर गिर पड़ा। यह देखकर सब लोग हँस पड़े और वह सिपाही समझ गया कि उसके साथ मजाक किया गया है।

आदत के लक्षण—स्टाउट महाशय ने आदत से होने वाली क्रियाओं के चार लक्षण निर्धारित किए हैं—समानता, सुगमता, ध्यान से स्वातंत्र्य और रोचकता। आदत के काम मशीन के समान एक से होते हैं। उनके करने में मनुष्य को मानसिक और शारीरिक शक्ति अधिक नहीं खर्च करनी पड़ती। विचारमय क्रियाओं में जैसे ध्यान की आवश्यकता होती है उस प्रकार आदत के कार्यों में नहीं होती, तथा जिस कार्य की हमें आदत पड़ गई है वे रुचिकर होते हैं। इन चार लक्षणों से मनुष्य के जीवन में आदत की उपयोगिता स्पष्ट है। हम आगे चलकर यह बताएँगे कि जीवन में आदतों का कितना महत्त्व है।

आदत का आधार

स्नायुओं के संस्कार—आदतें बनती कैसे हैं—इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिए गए हैं। विलियम जेम्स कहते हैं कि आदतों का बनना हमारे स्नायु-तंतुओं द्वारा स्नायुशक्ति के प्रवाह पर निर्भर है। जिस तरह बरसात के दिनों में पानी के बहने से खेत में अपने आप नालियाँ बन जाती हैं और उन नालियों के एक बार बन जाने पर पानी उनसे ही बह कर जाता है जिससे

कि वे और भी गहरी होती जाती हैं, उसी प्रकार हमारी शारीरिक और मानसिक क्रियाएँ स्नायुओं पर अपना संस्कार छोड़ जाती हैं जिससे कि उसी प्रकार की क्रियाएँ आसानी से होती जाती हैं और उन संस्कारों को और गहरा बना देती हैं। यही संस्कार आदतों का आधार है। गाल्ट और हावर्ड महाशय इस विषय में लिखते हैं कि जन्म के समय किसी व्यक्ति के मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न स्नायुओं में आपस में संबंध नहीं होते; ये संबंध अनेक प्रकार के अनुभवों के बाद स्थापित होते हैं। इन संबंधों की स्थापना होना ही आदतों का बनना है।

उपर्युक्त सिद्धांत भौतिकवादियों का है। इस सिद्धांत में कई त्रुटियाँ हैं। अभी तक मनुष्य के मस्तिष्क की बनावट और स्नायुओं की क्रिया की इतनी खोज नहीं हो पाई है कि हम निश्चयपूर्वक यह कह सकें कि आदतें ऊपर कही हुई प्रक्रियाओं के अनुसार ही बनती हैं। स्वयं गाल्ट और हावर्ड महाशय इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्नायुविषयक वर्तमान ज्ञान की स्थिति में यह सिद्धांत पूरी तरह स्थिर नहीं होता है; तो भी दूसरा कोई सिद्धांत सामने न होने के कारण उन्होंने इसे स्वीकार किया है।

इच्छा शक्ति का कार्य—वास्तव में आदतों का बनना हमारी मानसिक क्रियाओं पर निर्भर है। शारीरिक क्रियाएँ जो आदतों के रूप में परिणत हो जाती हैं, मन के द्वारा ही संचालित होती हैं। जड़वादी मनुष्य के भेजे को ही मन कहते हैं। पर हमें यह सिद्धांत स्वीकार नहीं है। इस सिद्धांत को जड़वादी आज दिन तक स्थिर नहीं कर पाए। यह किसी भी समझदार व्यक्ति को स्वीकार नहीं हुआ कि हमारे चंचल मन की करोड़ों क्रियाओं की नाट्यशाला मनुष्य का भेजा ही है।

मिट्टी और पत्थर जैसे जड़ पदार्थों में और मन में यह भेद है कि मिट्टी और पत्थर में इच्छाशक्ति नहीं है, पर मन में इच्छाशक्ति है। अतएव मानसिक क्रियाएँ और उनके परिणाम तथा जड़ पदार्थों की प्रक्रियाएँ वा उनके परिणाम समान नहीं होते। इस व्यतिरेक के कारण जिस प्रकार जड़ पदार्थ में संस्कार दृढ़ होते हैं उसी प्रकार मन में वे दृढ़ नहीं होते। दोनों प्रक्रियाओं की जब तुलना की जाती है तब उनके बाहरी स्वभाव की तुलना होती है, आंतरिक की नहीं। जड़ पदार्थ में घर्षण होने से संस्कार अवश्य पड़ेगा और दृढ़ होगा, पर मन पर संस्कारों का पड़ना और दृढ़ होना उसकी इच्छाशक्ति पर निर्भर है। इच्छा के प्रतिकूल यदि हम किसी संस्कार को किसी व्यक्ति के मन में दृढ़ करना चाहें तो उसका परिणाम संभवतः उलटा ही होगा। मन उन्हीं बातों का स्वागत करता है जिनमें वह सुख और लाभ देखता है। जिन बातों में सुख और लाभ की संभावना नहीं, उनके प्रति मन अपने अंतस्तल के दरवाजे बंद कर लेता है और फिर वे बातें जीवन में कोई महत्त्व का स्थान नहीं रखतीं।

उपर्युक्त कथन से यह प्रत्यक्ष है कि आदतों के बनने में इच्छाशक्ति का ही प्राधान्य है। जिस भावना को हम अपने अंदर बार-बार लाते हैं वह हमारे स्वभाव का अंग बन जाती है। इसी तरह जिस क्रिया को हम बार-बार करते हैं वह हमारी सहज क्रिया हो जाती है। इसमें कारण इच्छाशक्ति ही है; इन क्रियाओं के करने में व्यक्ति के मन को ध्यान नहीं देना पड़ता। जान पड़ता है कि शरीर अपने आप ही उन्हें करने लगा है। अतएव कुछ लेखक आदतों के कार्य को चेतनाशून्य बताते हैं। वास्तव में बात ऐसी नहीं। जितने भी कार्य हमारे शरीर द्वारा होते हैं उनका अधिष्ठाता मन है। मन का एक तो व्यक्त रूप है

और दूसरा अव्यक्त। मन के अव्यक्त रूप को हम उसका बृहद्रूप कह सकते हैं। आदतों की अपने आप होने वाली क्रियाओं का संचालन यह हमारा बृहत् वा अव्यक्त मन करता है। इस मन में हमारी हर प्रकार की वासनाएँ रहती हैं। जो क्रियाएँ इन वासनाओं के फलित होने के लिये की जाती हैं उनके परिणाम भी हमारे इस अव्यक्त मन में स्थित रहते हैं और वे ही परिणाम आदतों के आधार हैं।

अव्यक्त मन का कार्य—जो मनुष्य नित्य ब्राह्ममुहूर्त में उठता है वह अपनी आदत के कारण ठीक समय पर उठ जाता है। यहाँ कौन से स्नायु हैं जो ठीक समय पर उसकी नींद तोड़ देते हैं? इसी प्रकार, जो मनुष्य किसी निश्चित समय पर किसी काम को करता है उसे समय आने पर वह काम याद आ जाता है और उसका अभ्यास मानो उसे उस काम को करने के लिये विवश कर देता है। क्या स्नायुओं का सिद्धांत मन की इस स्थिति को समझा सकता है? पर हमारे उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार अवश्य यह स्थिति समझाई जा सकती है। मनुष्य का अव्यक्त मन ही उसे ठीक समय पर जगाता और सब कामों को निश्चित समय पर कराता है। हम यह नहीं बता सकते कि यह अव्यक्त मन शरीर के किस कोने में रहता है। ऐसे प्रश्न जड़वादियों के द्वारा ही उठा करते हैं। जो चेतन सत्ता में विश्वास करते हैं उनके मन में ये प्रश्न नहीं उठते। हम अपने शरीर के अनेक पुरजे चेतन मन से जानते हैं, अतएव मन को शरीर के पुरजों में भरा हुआ बताना अपने कंधों पर स्वयं अपने को बैठाना है।

मनुष्य जैसी आदतें चाहे अपने आप में डाल सकता है और जिनको मिटाना चाहे मिटा सकता है। यह सब उसकी इच्छाशक्ति पर ही निर्भर है। इच्छाशक्ति ही चरित्र को सुधारने

और बिगाड़ने का मूल कारण है। इसी तरह संसार की अनेक उपयोगी क्रियाओं के सीखने का कारण इच्छाशक्ति ही है। जब किसी काम के करने की हमें इच्छा होती है तब उसको करने में हमें आनंद मिलता है। इस कारण हम उस क्रिया को बार-बार करते हैं जिससे वह आदत रूप धारण कर लेती है। यदि क्रिया इच्छा के प्रतिकूल हुई तो उसको करने में आनंद नहीं मिलता, अतएव वह बार-बार नहीं की जाती और उसके बार-बार करने से मन उकताने लगता है; ध्यान इधर से उधर भागता है और चित्त में नितांत विक्षिप्तता सी आ जाती है।

रुचि और आदत—मनुष्य का अनेक क्रियाओं का सीखना आदतों का बनाना ही है। अतएव हमें चाहिए कि उपर्युक्त सिद्धांत को ध्यान में रखें। यदि किसी बात की आदत डालनी है तो पहले उसके प्रति रुचि पैदा करना उचित है, फिर वह आदत सहज में ही पड़ जायगी। इस रुचि के पैदा करने के अनेक उपाय हैं। रुचि किसी भी पदार्थ के बार-बार प्रयोग से, उसके विषय में ज्ञान होने से तथा मूल प्रवृत्तियों का समाधान करने की योग्यता से होती है।

यदि हम संयोगवश किसी विशेष परिस्थिति में पड़ जायँ और वहाँ पर हमें किसी विशेष प्रकार से रहना पड़े तो कुछ दिनों के बाद उस रहने के ढंग में हमें रुचि हो जाती है। यदि जेल के कैदी अपने जीवन को उतने दुःख से बिताएँ जितने की हम बाहर रहने वाले कल्पना करते हैं तो वे कदापि न जीवित रह सकें। पर अभ्यास इन दुःखद परिस्थितियों को रुचिकर बना देता है। इसी तरह सुन्ती में रहने वाले अपने दिन मानसिक क्लेश के बिना ही व्यतीत कर लेते हैं।

जो व्यक्ति विदेशी पोशाक पहनता है, वह उसको पहले

पहल पहनते समय बहुत हिचकता है। उसको कुछ अटपट सा मालूम होता है। पर जब उसे किसी परिस्थिति में पड़कर इस वेष को धारण ही करना पड़ता है तो वही उसे प्रिय हो जाता है। इस रुचि के पैदा होने का कारण अभ्यास है। रुचि पैदा होने के बाद अंग्रेजी पोशाक पहनना एक आदत बन जाती है, फिर उसे छोड़ना उतना ही कठिन काम हो जाता है जितना कि उसका ग्रहण करना।

किसी वस्तु के ज्ञान से भी रुचि पैदा होती है। सिनेमा की कंपनियाँ कितने ही विज्ञापन प्रतिदिन निकालती हैं। 'पियर्स सोप' लिखा हुआ अनेक स्टेशनों पर टँगा रहता है। इसी तरह चाय और नई दवाओं के विज्ञापन देखने में आते हैं। ये सब किसलिये ? लोगों में रुचि पैदा करने के लिये। जब रुचि पैदा हो जाती है तब आदतें अपने आप पड़ जाती हैं। जर्मनी के सुप्रसिद्ध मनोविज्ञान के पंडित हरबार्ट ने बालकों के चरित्र के सुधारने का मार्ग उनका ज्ञान बढ़ाना ही बताया है। जिस प्रकार के ज्ञान की वृद्धि होती है उस ओर मनुष्य की रुचि हो जाती है और फिर वह तदनुकुल कार्यों में प्रवृत्त होता है; अर्थात् उसके जीवन में नई आदतें पड़ती हैं और उसके चरित्र का निर्माण होता है।

रुचि हमारी मूल प्रवृत्तियों के अनुसार होती है, यह तो अमिट सिद्धांत है। हमारी नई चीजों को देखने की रुचि, दूसरों को लड़ते देखने की रुचि, दूसरों की नकल करने की रुचि, इत्यादि हमारी मूल प्रवृत्तियों पर निर्भर हैं। अतएव नई आदतें डालने के लिये इन रुचियों से जहाँ तक हो सके काम लेना चाहिए। वास्तव में आदतें इन्हीं मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तित रूप हैं।

बाल्य जीवन में आदत का स्थान

आदत के विषय का अध्ययन करना शिक्षकों और अभिभावकों के लिये बड़ा ही लाभकारी है। बालक के जीवन में शुभ आदतों का डालना ही शिक्षा है। अतएव आदतों के स्वरूप और उनके डालने के नियम भली भाँति हरएक शिक्षक को जान लेने चाहिए।

रूसो का सिद्धांत—कोई-कोई विद्वान् बालक के जीवन में आदत डालने के विरोधी हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् रूसो का कथन है कि उसका आदर्श बालक एमिली एक ही आदत डालेगा और वह यह कि किसी प्रकार की आदत न डालना। रूसो महाशय कहते हैं कि जो व्यक्ति आदतों में बँध जाता है वह अपनी ईश्वरदत्त स्वतंत्रता को खो देता है। वह अपनी बनाई हुई जंजीरों से अपने आपको जकड़ लेता है। हमारी शारीरिक क्रियाएँ मशीन की तरह होने लगती हैं। इसी तरह हमारी विचारधारा भी एक रूढ़ि की शरण ग्रहण कर लेती है। ऐसा व्यक्ति नए मार्ग पर चलने से सदा डरता है। वह नए भावों, आविष्कारों एवं सामाजिक सुधारों का विरोधी होता है। आदतों में बँधा व्यक्ति अतीत का दास होता है और क्रांति का सामना करने की उसमें हिम्मत नहीं रहती। उसमें पुरानी बात में बुराई देखने की न तो शक्ति ही रहती है, और यदि उसे सुझा भी दिया जाय तो न वह उसमें कोई परिवर्तन ही कर सकता।

रूसो का उपर्युक्त कथन कुछ अंश तक सत्य है। मनुष्य को अपना सारा जीवन आदतों पर ही निर्भर नहीं कर देना चाहिए। पर यह बात भी सत्य है कि आदतों के बिना न तो मनुष्य रह सकता है, और न बिना भली आदतों के पड़े उसके जीवन में

विकास हो सकता है। आदतें तो जीवन में अपने आप पड़ ही जाती हैं। यदि हम भली आदतें न डालेंगे तो बुरी आदतें पड़ जायँगी। मनुष्य सोच विचार कर उपयोगी आदतें अभ्यास द्वारा अपने जीवन में डालता है। यदि वह ऐसा न करे तो फिर मूल प्रवृत्तियाँ ही अनेक आदतों का काम करेंगी। अर्थात् मनुष्य विचारशून्य होकर अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करेगा। यह कहाँ तक उसे शोभा देगा और कहाँ तक उसके जीवन को सफल बनाएगा, यह विचारवान् व्यक्ति सहज ही समझ सकता है।

आदत से लाभ—ऊपर आदतों के लक्षण कहे गए हैं। इनसे उनकी उपयोगिता सिद्ध होती है। आदत शक्ति-संचय का एक बड़ा भारी साधन है। इसके कारण हम जीवन के असंख्य कार्य बिना ध्यान दिए कर लेते हैं। यदि हमें किसी काम को बार-बार करने में उतनी ही मानसिक शक्ति खर्च करनी पड़े जितनी कि उसे पहली बार करने में खर्च करनी पड़ी थी, तो हम अपने जीवन के बहुत थोड़े ही कार्य कर पाएँगे। हम इतनी सुगमता से चलते, बोलते, पढ़ते हैं कि हमें इनके करने में कुछ प्रयास ही नहीं मालूम होता। इन्हीं क्रियाओं को पहले पहल करने वाला बालक कितनी मुश्किल से करता है! नौसिखुए को कितना ध्यान बाइसिकल चलाने में या हारमोनियम बजाने में देना पड़ता है, और फिर वे ही क्रियाएँ कैसी सुगमता से अभ्यास के बल हो जाती हैं! इन सब बातों को देखकर आदत की उपयोगिता प्रत्यक्ष हो जाती है।

बाल्यकाल की महत्ता—बाल्यकाल मनुष्य के जीवन में आदत डालने का उत्तम समय है। जो रुचियाँ इस समय पैदा हो जाती हैं तथा जो आदतें पड़ जाती हैं वे प्रायः जीवन

भर काम देती हैं। जीवन के अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हें भली भाँति करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये बाल्यकाल में ही उनका आरंभ करना चाहिए। नई भाषा आयु अधिक हो जाने पर आसानी से नहीं सीखी जा सकती, इसी तरह शब्दों के उच्चारण और रहन-सहन के ढंग भी। जो बालक बाल्यकाल में खेल नहीं खेले रहता उसको खेल के प्रति कोई रुचि ही जीवन भर नहीं होती। अतएव शिक्षकों को चाहिए कि इस काल का बड़ी साव-धानी से भली आदतें डालने में उपयोग करें।

आदत डालने के नियम

विलियम जेम्स ने आदत डालने के चार महत्त्वपूर्ण नियम बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) **दृढ़ संकल्प**—जब कोई अच्छी आदत डालना हो तो मनुष्य को चाहिए कि उसके गुणों पर भली प्रकार विचार करे। उस आदत का जीवन में क्या लाभ होगा इसको मन में अच्छी तरह बैठा ले। इसके लिये कुछ दूसरे लोगों से चर्चा करे और अध्ययन की सहायता से हर प्रकार का ज्ञान उस आदत के बारे में प्राप्त करे। इसके बाद एक दृढ़ संकल्प करे कि वह अमुक बात को रोज करेगा। जितनी दृढ़ता से संकल्प किया जायगा, उतनी ही वह आदत मजबूत होगी। आदत डालने की यह पहली सीढ़ी है।

(२) **कार्यपरायणता**—मनुष्य को चाहिए कि संकल्प करते रहने में ही समय व्यतीत न कर दे। जिस बात का निश्चय करे उसके अनुसार शीघ्र कार्य में लग जाय। ऐसा न करने

से मनुष्य बड़े-बड़े संकल्प करके भी कुछ न करने की आदत डाल लेता है। उसे अपने आप पर फिर भरोसा नहीं रहता।

(३) संलग्नता—जब तक नई आदत जीवन में भली प्रकार न बन जाय तब तक उसके प्रतिकूल कार्य न करना चाहिए। शुरू में किसी कार्य में विफल होने से मन में कायरता उत्पन्न हो जाती है। जैसे, सूत का पिंडा लपेटते समय यदि हाथ से छूट जाय तो एक बार हाथ से छूट जाने से कई मिनट का काम खराब हो जाता है, उसी प्रकार आदत बनने का कार्य है। एक बार चूक हो जाने पर फिर आदत के बनने में बड़ी कठिनाई होती है। यदि कोई मनुष्य सबेरे उठने का संकल्प करे और चार छः दिन उस संकल्प के अनुसार चलने के बाद एक रोज ढील डाल दे तो उसकी फिर सबेरे उठने की आदत जल्दी नहीं बन पाती। जीवन की दूसरी आदतं बनने या बिगड़ने का भी यही नियम है।

(४) नित्य का अभ्यास—आदतें मजबूत करने के लिये मनुष्य को अपने निश्चय के अनुसार सदा कार्य करते रहना चाहिए। यदि मनुष्य संकल्प तो खूब दृढ़ता से करे और मौका पड़ने पर उसके अनुसार कार्य न करे तो उसका मन और कमजोर हो जाता है। ऐसे ही व्यक्तियों के बारे में कहा है कि शुभ संकल्प नरक की ओर भी ले जाता है। अतएव जिस मनुष्य को भला चरित्र बनाना है उसे चाहिए कि मौका आने पर पीछे न हटे, बल्कि वह मौकों की खोज में रहे। जो देशसेवा की आदत अपने अंदर डालना चाहता है, उसे नियम से रोज अध्ययन करना चाहिए। किसी आदत के अनुसार कई दिन तक कार्य न करने से उसका लोप हो जाता है।

बालकों के जीवन में आदतें डालने के लिये उन आदतों की

उपयोगिता उन्हें भली भाँति समझानी चाहिए। जिस कार्य में बालकों की रुचि हो जायगी उसे वे सुगमता से करने लग जायँगे। जब उनकी लगन किसी अच्छी बात में हो जाय तब उस लगन को कायम रखने के लिये बालकों से उसके अनुकूल कार्य कराते रहना चाहिए। इस प्रकार आदत दृढ़ हो जाती है।

भली आदत डालने में बालकों की अनुकरण की प्रवृत्ति से हम बहुत कुछ काम ले सकते हैं। बालक वही अपने आप करने लग जाते हैं जो बड़े लोग करते हैं। अतएव हमें चाहिए कि उनके सामने कोई बुरे उदाहरण न आने दें। बार-बार के ज्ञान-संस्कार से अनेक प्रकार के कार्यों में अभिरुचि होती है, फिर सहज में ही वे काम होने लगते हैं।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

बालकों का झूठ

हम सभी बालकों में अच्छी आदतें डालना चाहते हैं। हम यह कदापि नहीं चाहते कि उनमें ऐसी आदतें पड़ जायँ जो उनके भावी जीवन को दुखी बनाएँ और जिन्हें वे सहज में छोड़ न सकें। आदत मनुष्य का दूसरा स्वभाव कहा गया है। एक बार किसी प्रकार की बान पड़ जाने से बड़ी मुश्किल से वह छूटती है। झूठ बोलना एक ऐसी आदत है जिसकी लत बचपन में ही पड़ जाती है और जिसे बाद में छोड़ना बड़ा कठिन होता है। बालक के जीवन को जो व्यक्ति सुखी बनाना चाहते हैं उनका यह परम कर्तव्य है कि वे इस बुरी आदत के पड़ने के कारणों को ठीक-ठीक समझ लें जिससे वे अपने बालकों को इससे बचा सकें।

बालकों के झूठ की विशेषता—इसके पहले कि हम बालकों में झूठ बोलने की आदत के कारणों को ढूँढ़ें, हमारा यह कर्तव्य है कि हम झूठ के वास्तविक स्वरूप को समझ लें और बालक के मनोविकास को भी जान लें। जो व्यक्ति बालक के मनोविकास और मानसिक स्थिति को नहीं जानता वह कदापि यह निर्णय नहीं कर सकता कि बालक का कोई कथन वास्तव

में सत्य है अथवा झूठ। झूठ का अर्थ है–वस्तु का यथार्थ रूप दूसरों को न बताना। जो वस्तु जैसी है उसका उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के सामने वर्णन करना सत्य है, और उसके विपरीत उसका वर्णन करना झूठ है। पर हमें यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि वस्तु और वस्तुज्ञान में भेद हो सकता है। किसी वस्तु का जो सामान्य ज्ञान प्रौढ़ावस्था के लोगों को होता है वह एक बालक को, संभव है, न हो। बालक की मानसिक स्थिति प्रौढ़ावस्था के लोगों की मानसिक स्थिति से भिन्न होती है। अतएव एक तरफ तो बालक का वस्तुज्ञान कई तरह से हमसे भिन्न होता है, और दूसरी तरफ हममें यह योग्यता नहीं कि हम उसके विशेष प्रकार के ज्ञान को जान सकें। हमें बालक के ज्ञान को जानने के लिये अपने आपको बालक की स्थिति में रखना पड़ेगा। जब तक हम स्वयं बालक की स्थिति में नहीं आ जाते तब तक उसकी पूरी मानसिक स्थिति को समझ नहीं सकते। अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम बालक की किसी चेष्टा के बारे में एकदम किसी विशेष प्रकार की धारणा न बना लें। हमें उतावले न होकर विचार से काम लेना चाहिए। बालक के मनोविकास को हमें कदापि न भूलना चाहिए।

झूठ और कल्पना——कितनी ही बार बालक का झूठ वास्तविक झूठ नहीं होता। बालक का बाह्य वस्तु का ज्ञान वैसा साफ नहीं होता जैसा प्रौढ़ावस्था के लोगों का। साथ ही साथ उसकी कल्पना-शक्ति अति प्रबल होती है। वह इंद्रिय-ज्ञान और कल्पना के कार्य को प्रायः पृथक् नहीं कर पाता, अतएव कई बार ऐसा होता है कि बालक ने देखा तो कुछ और है पर वर्णन किसी दूसरी वस्तु का करता है। बालक की तुरंत की स्मृति भी तीव्र नहीं होती। वह अनुभव की बातों को बहुत जल्दी भूल

जाता है और भूली हुई बात को उसकी कल्पना-शक्ति अपने आप नए ढंग से रच लेती है। जिस प्रकार हम अपने स्वप्नों के सच्चे स्वरूप को प्रायः याद नहीं कर पाते, वरन् उनका एक दूसरे ही प्रकार का रूप स्मृति में आता है, उसी प्रकार बालक अनेकों बार अपने वास्तविक इंद्रिय-ज्ञान को याद नहीं कर पाता और उसके बदले उसका अज्ञात मन कल्पना द्वारा एक नई वस्तु खड़ी कर देता है। जब कभी बालक को हम कुछ का कुछ कहते देखते हैं तो हम उसपर क्रोधित होते हैं। पर जहाँ तक कल्पना और इंद्रिय-ज्ञान में भेद न करने की बात है और जहाँ तक उसकी स्मरण-शक्ति का दोष है वहाँ तक बालक स्वयं निर्दोष है। ऐसा बालक जान-बूझकर झूठ नहीं बोलता। या तो उसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं या उसका अव्यक्त मन उसे कुछ का कुछ स्मरण कराता है। यह बात बालकों के जीवन में अकसर हुआ करती है। अतएव बालकों का बहुत सा झूठ वास्तविक नहीं होता।

झूठ और निर्देश—ऐसे समय पर बड़ों को बालकों से कदापि यह न कहना चाहिए कि तुम झूठ बोल रहे हो। ऐसा करने से वे जिस वस्तु को जानते नहीं उसे जानने की चेष्टा करेंगे और वास्तव में झूठ बोलने लग जायँगे। यदि बालकों को ऐसे झूठ के लिये दंड दिया गया तो और भी बुरा है, क्योंकि इससे बालक यह जान लेता है कि जब उसे झूठ बोलना पड़ेगा तब उसका आखिरी परिणाम क्या होगा। बालक के जीवन में ऐसे झूठ अनेक रहते हैं, अतएव बार-बार का दंड भी भय की वस्तु नहीं रहता और वह उसके चरित्र-सुधार का साधन न बनकर उसे बिगाड़ने का साधन हो जाता है।

झूठ और अनुकरण—कभी कभी बालक का झूठ बोलना दूसरों का अनुकरण मात्र होता है। बालक में अनुकरण करने की

प्रवृत्ति इतनी तीव्र होती है कि वह दूसरों को जो कुछ करते देखता है वही झट स्वयं करने लग जाता है। वातावरण का असर बालकों के चरित्र पर स्थायी होता है। जिस वातावरण में लोग पग-पग पर झूठ बोलते हैं, जहाँ हँसी मजाक में अनेक झूठी बातें बोली जाती हैं, वहाँ के बालक भला कैसे सत्यवादी हो सकते हैं? वे सत्य बोलने का महत्त्व ही कैसे जानेंगे? पहले तो बालक में सच और झूठ को पहचानने की शक्ति ही नहीं होती; पर जब उसे यह पहचान हो जाती है तब वह सहज में ही झूठ बोलने लग जाता है।

बालक के जीवन में बड़ों की अपेक्षा अपनी उम्र के बालकों के कार्यों का असर अधिक पड़ता है। अतएव बहुत से भले घर के बालक झूठ बोलना अपने खेल के साथियों या सहपाठियों से सीख लेते हैं। पहले तो यह झूठ बोलना एक साधारण सी अनुकरण की क्रिया भर रहती है, पर धीरे-धीरे नैतिक झूठ का भी आरंभ हो जाता है। अभ्यास का प्रभाव जीवन में गहरा होता है। अतएव जो बात कई बार अनायास ही की जाती है वही फिर अनेक प्रकार के चरित्र के दोषों को पैदा करने वाली बन जाती है। यहाँ शिक्षक का कर्तव्य है कि स्कूल का वातावरण ठीक रखे जिससे बालक-समुदाय में असत्य का प्रचार न हो। यदि किसी बालक के घर का वातावरण बुरा है तो वह उसके बुरे संस्कारों को दूसरों में न फैलाने पाए; इसके विपरीत भले घर के बालकों के शुभ संस्कार दूसरे अपने साथ ले जायँ।

विक्षिप्त झूठ—कितने ही बालक विक्षिप्त अवस्था में अपने अनजाने झूठ बोलते हैं। ऐसा बालक झूठ बोलकर भी, यह नहीं जानता कि वह झूठ बोल रहा है। जब उसे बताया जाता है कि उसका कथन झूठ है तब भी वह स्वीकार नहीं करता, वरन् उसे मिथ्या दोषारोपण मानता है। इस प्रकार का झूठ

विचित्र झूठ कहा जा सकता है। इस प्रकार के झूठ का एक सुंदर उदाहरण सिरिलबर्ट महाशय ने अपनी पुस्तक दी मेन डिलेंकेंट में दिया इस प्रकार है—

नौ वर्ष की मेरी नेलर नामक एक बालिका एक भद्र पुरुष की लड़की थी। बालिका बड़ी सुशील थी। वह अपने पिता के घर पर अपनी सौतेली माँ के साथ रहती थी। मेरी नेलर के पिता कुछ दिन से गाली से भरे पत्र पाने लगे। वे सोचते थे कि इन पत्रों को उनकी पहली स्त्री, जो कि मेरी की माँ थी और जिसे व्यभिचार के दोष में नेलर महाशय ने छोड़ दिया था, भेजती होगी, अतएव वे उनकी परवाह नहीं करते थे। कुछ दिन बाद नेलर महाशय के मित्र लोग ऐसे पत्र पाने लगे जिनमें नेलर पर उनको धोखा देने का दोषारोपण होता था। इन पत्रों के कारण वे परेशान रहते थे। एक बार जिस कारखाने में नेलर महाशय काम करते थे उसके मैनेजर ने पत्र पाया कि नेलर उनकी पत्नी के साथ व्यभिचार करते हैं। मैनेजर ने नेलर को यह पत्र दिखाया। अब तो नेलर की परेशानी का ठिकाना न रहा। वे यह निश्चय नहीं कर सकते थे कि उनकी पुरानी स्त्री ही उन पत्रों को भेजती है। निदान उन्होंने सब मामला खुफिया विभाग के सुपुर्द कर दिया।

खुफिया की खोज से पता चला कि उन पत्रों को भेजनेवाली मेरी नेलर ही थी। जब मेरी नेलर की अध्यापिका को वे पत्र दिखाए गए तब अध्यापिका ने उसकी हस्तलिपि दिखाई और कहा कि वे पत्र मेरी के हो ही नहीं सकते। साथ ही, मेरी इतनी सुशील थी कि उसके आचरण से यह संदेह नहीं होता था कि वह ऐसे जाली पत्री लिख सकती है। मेरी की लिखावट बड़ी साफ और सुडौल होती थी, पर पत्र गंदी तरह से लिखे रहते थे। जब मेरी से पत्रों के बारे में पूछताछ की गई तब

वह रोने लगी। वह इनके बारे में कुछ भी नहीं जानती थी। पर यह भी पूरी तरह से प्रमाणित हो गया था कि पत्र उसी बालिका द्वारा लिखे गए हैं।

अंत में इस घटना को समझने के लिये एक मनोवैज्ञानिक की सहायता ली गई। बालिका के मनोविश्लेषण से पता चला कि बालिका की साधारण चेतना को वास्तव में उन पत्रों के लिखने का कुछ भी ज्ञान न था, यह सब कार्य उसके अचेतन मन का था। बालिका के मन में अंतर्द्वंद्व उपस्थित था। उसका चेतन मन एक तरह का था और अचेतन मन दूसरी तरह का। वह अपने चेतन मन से जितनी सुशील थी, उतनी ही दुराचारिणी वह अपने अचेतन मन से थी। उसका चेतन मन बड़ा आज्ञाकारी और संतुष्ट दिखाई देता था पर उसका अचेतन मन ठीक इसका उलटा था। दोनों मन अपने-अपने ढंग से काम करते थे। दोनों में कोई मेल नहीं था।

इस प्रकार की स्थिति बालिका को अपने पिता के प्रति असंतोष के कारण उपस्थित हुई थी। बालिका अपनी माँ को नहीं भुला सकती थी। वह उसे निर्दोष समझती थी। वह सौतेली माँ को हृदय से घृणा करती थी, पर ऊपरी भाव से वह सुशीलता दिखाती थी। वह अपने आपको भला बनाना चाहती थी, पर हृदय दुःखी था और वह बदला लेना चाहता था। उसकी नैतिक बुद्धि उसे ऐसा करने से रोकती भी। यही कारण था कि उसके बाहरी और भीतरी मन का ऐक्य टूट गया और वह एक व्यक्ति न होकर अब दो व्यक्ति बन गई। झूठ बोलने की प्रवृत्ति भी इसी कारण उत्पन्न हुई। वह अपनी भीतरी इच्छाओं को भी नहीं जानती थी। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के द्वारा इस स्थिति का अंत किया गया।

झूठ और भय—कई बालक भय के कारण झूठ बोलते हैं। जब कोई माता-पिता अपने बालकों को बात-बात पर अनुचित दंड दिया करते हैं तब उस दंड से बचने के लिये बालक झूठ बोलते हैं। कभी-कभी ऐसा करने से वे दंड से बच भी जाते हैं। इस तरह झूठ बोलने की आदत उनमें पड़ जाती है।

उदाहरणार्थ, एक बालक अपने पिता के बैठकखाने में गया। बालक तो सदा चंचल रहता ही है; उसने पिता की अनेक चीजों पर हाथ लगाया। उसने मेज पर रखा हुआ दर्पण अपने हाथ में लिया और अपना मुँह देखने लगा। इतने में एकाएक बिल्ली ने खिड़की का दरवाजा खड़खड़ाया, बालक झट वहाँ देखने लगा और उसकी जल्दी, भय और असावधानी के कारण दर्पण हाथ से छूट गया। वह जमीन पर गिरा और उसमें दरार हो गई। अब उसे परेशानी हुई। क्या करे ? उसने झट उस शीशे को मेज पर उलटा रखा और बाहर भाग गया। जब उसका पिता आया और शीशे को देखा तो समझ गया कि किसने उसे तोड़ा है और किसे यह सूझा होगा कि उसे इस प्रकार उलटा करके रख दे। उसने बालक को बुलाया और गुस्से से पूछा—"क्यों जी, दर्पण किसने तोड़ा ?" बालक ने समझा, अब मार पड़ी। यहाँ यह स्वाभाविक है कि मार से बचने के लिये वह अनेक प्रकार से झूठ बोले। मार तो अकसर पड़ती ही है, पर कभी-कभी इस चतुराई सेबालक बचभी जाता है।

झूठ और आत्मप्रकाशन—बहुत से बालक अपने आप को दूसरों से अच्छा सिद्ध करने के लिये अथवा दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये झूठ बोलते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में अपने आपको दूसरों से अच्छा सिद्ध करने और दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की इच्छा होती है। यह

आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति के विकास के कारण होती है। जब यह इच्छा नियंत्रित और भले ढंग से प्रकाशित होती है तब संसार के बड़े-बड़े काम होते हैं। संसार के महत्त्व के काम आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति के परिणाम हैं। पर जब इस इच्छा का दमन होता है तब वह मानसिक ग्रंथि के रूप में परिणत हो जाती है और अनेक अपराधों के रूप में प्रकाशित होती है। कोई भी मानसिक प्रवृत्ति जब अपने प्रकाशन का सुयोग्य मार्ग नहीं पाती तब वह विकृत मार्ग से प्रकाशित होने लगती है। जिस बालक की प्रशंसा सच बोलने पर नहीं होती वह झूठ बोलने लगता है। ऐसे बालक में चुगलखोरी की आदत भी पड़ जाती है। बालक चुगली करते समय बहुत सा झूठ बोल जाता है। विलियम स्टर्न महाशय का दिया हुआ एक उदाहरण इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

एक नौ वर्ष की बालिका एक दिन स्कूल में कुछ देरी से आई। अध्यापिका ने जब कारण पूछा तब बालिका ने कहा कि मेरी माँ बीमार हो गई है इसलिये मुझे देर हो गई। अब अध्यापिका उस बालिका से उसकी माँ की कुशलता रोज पूछने लगी। बालिका कभी उसकी हालत कुछ अच्छी बताती और कभी बिगड़ती हुई बताती। अंत में एक दिन बालिका ने कहा कि उसकी माँ अब एक दम अच्छी हो गई। अध्यापिका ने अपने पत्रवाहक के द्वारा बालिका की माँ को उसकी बीमारी से मुक्त होने पर प्रसन्नता प्रगट करते हुए एक पत्र भेजा। इस पत्र को पढ़कर वह महिला चकित हो गई। उसने अध्यापिका को लिखा कि मैं कभी बीमार ही नहीं हुई थी, आपको बीमारी की खबर कैसे मिली।

वास्तव में यह सारी करामात उसी बालिका की थी। वह किसी न किसी प्रकार अध्यापिका का ध्यान अपनी ओर आकर्षित

करना चाहती थी और वह इस काम में सफल हुई। यदि बालिक अध्यापिका का ध्यान किसी भले तरीके से आकर्षित कर सकती तो उसे उक्त झूठ को गढ़ने की आवश्यकता न होती।

दमन का दुष्परिणाम—बार-बार पिटने से पीठ मजबूत हो जाती है और फिर झूठ बोलना सरल हो जाता है। काम बिगाड़ने के लिये मार पड़ती है, झूठ बोलने के लिये कोई अलग तो मार पड़ती नहीं, यह विचार बालक के मन में आता है और उसे झूठ बोलने का प्रलोभन सहज में हो जाता है।

यदि माता-पिता पहले से ही बालक की साधारण इच्छा की तृप्ति करते रहें, उसकी जिज्ञासा तथा खाने खेलने की अभिलाषा को जबरदस्ती न दबाएँ तो बालक न तो उतने काम बिगाड़े और न उसे अकारण माता-पिता से भय ही हो। प्रायः पिता का कठोर व्यवहार अनेक झूठ का कारण होता है। इसी तरह शिक्षक का भी सहानुभूति-रहित कठोर व्यवहार बालकों को दुराचारी बना देता है। हमें चाहिए कि बालकों के साथ सहानुभूति का व्यवहार करें और उनकी साधारण प्राकृतिक इच्छाओं की तृप्ति करने का प्रयत्न करें। इन इच्छाओं का बालकों के विकास में बड़ा महत्त्व है। अधिक दंड देने से बालकों का चरित्र बनता नहीं, बिगड़ता है। वे मिथ्याचारी हो जाते हैं और कई प्रकार के दूसरे दुर्गुण भी उनके जीवन में समा जाते हैं।

झूठ बोलना सिखाना—यदि ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बालकों की झूठ बोलने की आदत के लिये उनके माता-पिता और शिक्षक ही जिम्मेदार हैं। कितने माता-पिता हैं जो इस बात पर विचार करते हैं कि हमारे अमुक कार्य का बालक के जीवन पर क्या असर होगा ? यदि हम बालक को सत्यवादी, सदाचारी बनाना चाहते हैं तो हमें पहले से ही सावधान रहना पड़ेगा।

कितने ही माता-पिता तो ऐसे हैं जो अपने छोटे-छोटे बच्चों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। हाल ही की बात है कि मैं अपने परिचित एक सेठ जी से मिलने गया। वे एक कमरे में बैठे थे और बाहर उनका एक नौकर खड़ा था। मैंने नौकर के पास जाकर पूछा—"सेठ जी हैं?" उसने एकाएक उत्तर दिया—"हैं"। इतने में सेठ जी मजाक करने के लिये भीतर से बोले—"सेठ जी नहीं हैं"। नौकर ने समझा कि शायद सेठ जी की इच्छा आगंतुक से मिलने की नहीं है। पर वह तो कह चुका था कि "सेठ जी हैं", अतएव उसे बड़ी घबराहट हुई। उसने घबराकर फिर कहा—"सेठ जी नहीं हैं।" पर उसकी मानसिक अवस्था बड़ी बेचैन थी।

कितने ही माँ-बाप ऐसे हैं जो अपने बालकों से वही काम कराते हैं जो कि उपर्युक्त दृष्टांत में उस नौकर को अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिये करना पड़ा था। नौकर की बेचैनी देखकर मन में विचार आया कि जब हम बालकों को भी इसी प्रकार झूठ बोलने के लिये कहते हैं तो उनके मन की क्या अवस्था होती होगी। पहले तो बालक झूठ को समझता ही नहीं, पर जब वह समझने लगता है तब उसकी आत्मा का जो अधःपतन होता है उसका अंदाज कौन लगाएगा? सचमुच बालकों से झूठ बोलवाने से बढ़कर दूसरा पाप नहीं हो सकता। ऐसा करने-वाले इससे अपनी आत्मा को तो पतित बनाते ही हैं, साथ ही वे दूसरों को भी रसातल को ले जाते हैं। वे अपनी संतान का जीवन अपने ही हाथों बिगाड़ते हैं।

बालकों का वास्तविक झूठ—उपर्युक्त कथन से यह न समझा जाय कि बालकों के जीवन में झूठ बोलने की प्रवृत्ति होती ही नहीं। हाँ, कुछ कवि लोग ऐसा अवश्य सोचते हैं कि बालक

की आत्मा बड़ी पवित्र होती है और उसे हम प्रौढ़ावस्था वाले लोग ही दुराचार सिखाते हैं। रूसो के सिद्धांत के अनुसार यदि हम बालक को सब प्रकार की स्वतंत्रता दें और उसमें किसी प्रकार की आदत न डालें तो उसका जीवन अपने आप दिव्य बन जायगा।

पर ऐसा सोचना भूल है। बालक लोभ के लिये, दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिये तथा उन्हें कष्ट देने के लिये भी झूठ बोलता है। कभी-कभी बालक मनोरंजन के लिये भी झूठ बोलता है और कभी-कभी तो झूठ बोलना किसी लुप्त वासना को तृप्त करने का एक विकृत मार्ग मात्र होता है। ऐसे झूठों का भी हमें अध्ययन करना चाहिए और उनके कारणों को जानना चाहिए। इस प्रकार का झूठ बोलना नैतिक जीवन के प्रतिकूल है और एक प्रकार का मानसिक रोग है जिससे बालक को शीघ्र ही मुक्त करना चाहिए।

वास्तविक झूठ से मुक्ति का उपाय—कभी कभी नैतिक झूठ की आदत का सुधार हम दंड द्वारा कर सकते हैं। रूसो ने बालक को इस प्रकार का झूठ बोलने से मुक्त करने का एक उपाय बताया है। वह यह है कि जब हम बालक को देखें कि वह झूठ बोलने की आदत डाल रहा है तब हम उसकी सची बातों पर भी विश्वास करना छोड़ दें। उन्हें अनसुनी कर दें। इससे बालक इस बात को समझ जायगा कि यदि वह झूठ बोलने की आदत डाल लेगा तो कोई व्यक्ति उसपर विश्वास नहीं करेगा। अतएव वह अपने आप झूठ से मुक्त होने की चेष्टा करेगा।

कभी-कभी बालक का बहिष्कार करने और शारीरिक दंड देने से भी झूठ की आदत छूट जाती है। पर शारीरिक दंड हर समय काम नहीं देता। किसी-किसी बालक के मन में किसी

प्रबल प्रवृत्ति के दमन के कारण भावना-ग्रंथियाँ पैदा हो जाती हैं और ऐसे बालक झूठ बोलकर उन दबी भावनाओं को उलटे तरीके से तृप्त करते हैं। ये सब क्रियाएँ अचेतन मन की होती हैं, बालक के चेतन मन को इनका ज्ञान भी नहीं रहता। दंड देकर हम ऐसे बालक को कदापि सुधार नहीं सकते, वरन् उसे अधिक दुराचारी बनाते हैं। ऐसे बालकों के लिये मानस-चिकित्सकों की आवश्यकता है। उनका उपचार *चित्त-विश्लेषण* के द्वारा करना चाहिए।

कोई कोई बालक अपना प्रभुत्व दूसरों पर जमाने के लिये झूठ बोलते हैं। ऐसा झूठ बोलना उनकी दबी हुई मानसिक इच्छा का विकृत रूप होता है। बालक कभी-कभी झूठी बातें इसलिये कहता है कि वह हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। यदि बालक की मान-लिप्सा साधारण तरीकों से तृप्ति पा चुकी है तो वह ऐसे अनैतिक और असाधारण मार्गों को कदापि ग्रहण नहीं कर सकता। बड़ों का कर्तव्य है कि बालकों की साधारण क्रियाओं में दिलचस्पी दिखाएँ और उनके साधारण प्रशंसा योग्य कामों की समय-समय पर प्रशंसा करते रहें। ऐसा करते रहने से बालक में दुराचार का समावेश नहीं होगा।

झूठ बोलना एक प्रकार की आदत है। आदतों का बाहरी कारण अभ्यास अवश्य है, पर यदि हम किसी आदत का विश्लेषण करके देखें तो उसके मूल में एक इच्छा-शक्ति[1] अवश्य पाएँगे।

१—श्री कालूलाल जी श्रीमाली द्वारा 'बालहित' के जुलाई १९३७ के अंक में कही गई निम्नलिखित बात ध्यान देने योग्य है—"यदि हर एक आदत का अच्छी तरह से विश्लेषण किया जाय तो पता लगेगा कि उसके पीछे एक इच्छा-शक्ति होती है जो उस आदत के द्वारा तृप्त होती है। आदत किसी अज्ञात इच्छा की प्रेरणा से बनती है और उसी को तृप्त करने के

बालक के झूठ बोलने से हमें घबड़ाना न चाहिए। *कभी-कभी झूठ पर ध्यान न देने से झूठ बोलने की प्रवृत्ति अपने आप नष्ट हो जाती है।* इसके विपरीत जब हम उनके झूठ पर विशेष ध्यान देने लगते हैं और उन्हें बताने लगते हैं कि तुम झूठ बोले, तब उनकी झूठ बोलने की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है।

किसी-किसी बालक में झूठ बोलने की आदत इसलिये भी पड़ जाती है कि उसे अक्सर सच बोलने के लिये समय असमय उपदेश दिया जाता है। यह विपरीत निर्देश का कार्य करता है। *जिस व्यक्ति के प्रति बालक के मन में प्रेम नहीं है और न जिसपर किसी प्रकार की श्रद्धा है उसे बालक को कदापि नैतिक उपदेश न देना चाहिए।* किसी बालक में भली आदत डालने के लिये हमें पहले उसके मन को बस में करना चाहिए। उसी बालक के जीवन में हम सुधार कर सकते हैं जिससे हमारी पूरी सहानुभूति वा प्रेम है और जो हमपर श्रद्धा रखता है। कितने ही ऐसे माता-पिता वा शिक्षक हैं जिनमें और बालक में सदा संघर्ष चला करता है। ऐसे माता-पिता वा शिक्षक बालक के जीवन पर किसी प्रकार का अच्छा नैतिक प्रभाव नहीं डाल पाते; अतएव यदि वे उसे झूठ न बोलने का उपदेश दें तो इसका परिणाम उलटा ही होगा।

जीवनोपयोगी झूठ—जो कुछ हमने झूठ बोलने की आदत के विषय में कहा है उससे यह कदापि न समझा जाय कि

लिये यह बनी रहती है। इसलिये अज्ञात इच्छा वास्तविक है और आदत है केवल उसका बाहरी रूप। बिना इस इच्छा-शक्ति के समझे किसी आदत को बनाना या मिटाना एक विफल सा प्रयत्न होगा।" इससे स्पष्ट है कि हम बालकों की उस छिपी हुई इच्छा को जाने बिना, जो झूठ बोलने की आदत का वास्तविक कारण है, बालक का झूठ बोलना नहीं छुड़ा सकते।

हम बालक के जीवन से मूठ को बिलकुल अलग कर सकते हैं। एक तरह से देखा जाय तो किस्से-कहानियाँ तथा बालकों के अनेक खेल भी मूठे व्यवहार ही हैं। यदि बालकों की सब कहानियों में सत्य ही रहे तो उनका कल्पना-जगत् तुच्छ हो जायगा; उनकी खेल की सामग्री संकुचित हो जायगी; वे स्वाँग वाले खेल न खेल सकेंगे। सब प्रकार के स्वांगों में एक प्रकार का मिथ्या व्यवहार होता है। बालक डाक्टर, सिपाही, जज, चोर आदि बनता है और कल्पना द्वारा अनेक प्रकार की रचना करता है। इस तरह तो हितोपदेश, पंचतंत्र और ईसप की कहानियाँ सब मूठ से भरी हुई हैं।

यदि हम झूठ का अर्थ इतना विस्तृत लें तो बालक के जीवन के विकास का मार्ग एकदम रुक जायगा। मैडम मांटसोरी तो इस प्रकार के झूठों को भी अपनी शिक्षाप्रणाली में स्थान नहीं देतीं। वे समझती हैं कि इस तरह की बातों से भी बालक के मनोविकास के लिये उसकी कल्पनाशक्ति की वृद्धि करना उतना ही आवश्यक है जितना कि उसके वास्तविक ज्ञान को बढ़ाना। कल्पनाशून्य बालक निर्बुद्धि होता है। कल्पना की वृद्धि जितनी जानवरों और अन्य आश्चर्यजनक किस्से कहानियों से होती है उतनी और किसी बात से नहीं होती। बालक का सहज स्वभाव उसे विचित्र वस्तुओं की ओर आकर्षित करता है। जितना जिस किस्से में अचंभा होता है उतना ही वह उसे अच्छा लगता है। यदि किसी कहानी में कोई आश्चर्य की बात नहीं है तो बालक उसे सुनेगा ही नहीं। अतएव बालकों की कहानियों में हमें उतनी मूठ अवश्य मिलानी पड़ेगी जितनी से वे उसके लिये रोचक बन जायँ।

यहाँ हमें प्लेटो का उपदेश मानना उचित होगा। प्लेटो

अपनी "रिपब्लिक" नामक पुस्तक में इस बात पर जोर देते हैं कि बालक को अच्छे कथानकों द्वारा धार्मिक और चरित्रवान् बनाया जा सकता है। इन कथानकों के बाहरी रूप में अवास्तविकता तो अवश्य रहती है, पर उनमें आंतरिक सत्य होता है। जिन कथानकों में नैतिक जीवन के विपरीत भावना का प्रचार किया गया है उन्हें समाज में कदापि प्रचलित न होने देना चाहिए। यदि किसी किस्से-कहानी में यह चित्रण किया गया है कि देवता लोग झूठ बोलते हैं, अपनी भोग की इच्छाओं को तृप्त करने के लिये अनेक प्रकार के रूप धारण करते हैं तो ऐसे किस्सों को समाज से अवश्य ही निकाल फेंकना चाहिए। प्लेटो ने होमर के कई ऐसे चरित्र-चित्रण को इस प्रकार से दूषित ठहराया है। होमर ने अपनी कविताओं में कई जगह देवताओं को ईर्ष्या, द्वेष, काम, लोभ आदि ऐसी ही प्रवृत्तियों से भरा बताया है जो साधारण मनुष्य में रहती हैं। इससे बालकों के चरित्र पर अवश्य बुरा प्रभाव पड़ता है।

हमारे पुराणों की अनेक कथाओं के बारे में भी यही कहा जा सकता है। कहीं देखते हैं कि देवताओं के राजा इंद्र दूसरे की स्त्री से रमण करने के लिये एक जानवर का रूप धारण कर लेते हैं, कहीं अपने बैरी का नाश करने के लिये अनेक प्रकार का जाल रचते हैं। इसी तरह कितने ही देवताओं में ऐसे चरित्र-दोष बताए गए हैं जो साधारण मनुष्यों में रहने पर भी क्षम्य नहीं समझे जाते। देवताओं के बारे में इस तरह की बातें लिखना झूठ है। यह झूठ ऐसा है जो बालक को सब प्रकार के नैतिक पतन की ओर ले जाता है। जैसा प्लेटो कहते हैं, "या तो देवता हैं ही नहीं और यदि हैं तो वे भले हैं।" दुराचारी देवता की कल्पना करना समाज में दुराचार का प्रचार करना है। इस

झूठ से बालक को हमें अवश्य बचाना चाहिए। हमें उसे यह सिखाना चाहिए कि आदर्श जीवन में झूठ और दुराचार के लिये कोई स्थान नहीं है।

उपर्युक्त तरीकों से ही हम बालक का जीवन सुखी और समाज के लिये उपयोगी बना सकते हैं। हरएक माता-पिता और शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक की मनोवृत्ति को ठीक ठीक समझ कर अपना व्यवहार उसी के अनुसार बनाएँ।

सोलहवाँ परिच्छेद

बालकों की चोरी की आदत

चोरी कानूनी और नैतिक, दोनों दृष्टिकोणों से अपराध है किंतु बच्चों में—कानूनी एवं नैतिक भावनाओं से शून्य बच्चों में—इस प्रवृत्ति को किस रूप में लिया जाय? बच्चों की चोरियों में उस अपराधपूर्ण उद्देश्य का अभाव रहता है जिसके आधार पर चोरी को अपराध माना जाता है। फिर भी कितने ही बच्चों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है और मनोवैज्ञानिकों के लिये यह प्रवृत्ति बहुत अधिक विशेषण का विषय रही है। इस प्रवृत्ति के कारणों एवं उनके निराकरण के उपायों की वैज्ञानिकों ने समीक्षा की है और कितने ही सुसभ्य देशों में वहाँ की सरकारों द्वारा इसके लिये क्रियात्मक उपायों का अवलंबन किया है। यों भी बच्चों की चोरी की प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिये एक दिलचस्प विषय है।

कितने ही बच्चों में पाई जानेवाली चोरी की प्रवृत्ति के सामान्यतः कारण हैं—

(१) जन्मजात मानसिक कमजोरी। (२) इच्छा की प्रबलता। (३) ईर्ष्या। (४) संगियों का प्रभाव। (५) आत्म-हीनता का भाव। (६) बहादुरी।

इन कारणों पर एक-एक करके विचार करना उपयुक्त होगा।

जन्मजात मानसिक कमज़ोरी—चोरी की आदत का एक कारण जन्मजात मानसिक कमजोरी है। जेलखानों और रिफार्मेटरी के अनेक अपराधियों की बुद्धि की परीक्षा करके देखा गया है कि ६० या ७० फीसदी लोग बुद्धि में निर्बल हैं। बिरला ही प्रखर बुद्धिवाला व्यक्ति अपराधियों की गणना में आता है। टरमेन महाशय ने अपनी बुद्धिमापक परीक्षा की पुस्तक में कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जिनमें जेल के कैदियों अथवा रिफार्मेटरी के बालकोंकी परीक्षा की गई और उन्हें बुद्धि में कम पाया गया। सिरिलबर्ट का एक उदाहरण उल्लेखनीय है।

उन्होंने लिखा है कि एक आठ वर्ष का बालक जटिल चोरी की आदत के लिये मेरे पास लाया गया। उसका बुद्धिमाप करने पर पता चला कि उसकी उम्र पाँच ही वर्ष की है।

वह पेनी को छोड़कर किसी दूसरे सिक्के का नाम नहीं बता सकता। उसने एक चमकीले आधे पेनी को पसंद किया और दूसरे सिक्के को, जो चमकता नहीं था, नहीं लिया। मेरे सामने ही उसने कार्ड और तस्वीर लेना प्रारंभ कर दिया। उसे जो कुछ सिक्के दिखाए जाते थे, चाहे वे चाँदी के अथवा ताँबे के हों सभी को वह लेना चाहता था। वह सभी का नाम "पेनी" कहता था और सबको हाथ में रख लेता था। सिर्फ एक ही बार उसने अपने चुराए हुए शिलिंग को मिठाई खरीदने में खर्च किया था, और इस काम में भी उसे एक दूसरे बालक से निर्देश मिला था। उसकी जेब में कितनी ही प्रकार की चीजें भी हुई थीं जैसे—बटन, कार्क, सिगरेट, कार्ड, लाल फीते, खड़िया मिट्टी, पेंसिलों के टुकड़े आदि। इससे यह प्रत्यक्ष है कि वह ऐसे काम चोरी समझकर नहीं करता था। वास्तव में उसकी आदत पड़

गई थी कि जैसे ही वह कोई वस्तु देखता था, उसे पाकेट में रख लेने की उसकी अदम्य प्रवृत्ति जाग पड़ती थी।

चोरी करनेवाले बालकों में बुद्धि का अभाव अस्वाभाविक नहीं। बुद्धि मनुष्य को अपने काम के भावी परिणाम के विषय में सचेत कर देती है। जिस व्यक्ति में बुद्धि की कमी होती है उसकी दृष्टि तुरंत के परिणाम पर ही रहती है। भावी परिणाम की वह ठीक-ठीक कल्पना नहीं कर पाता। अतएव यदि उसे पहले से कोई योग्य शिक्षा न मिली तो वह सरलता से ही अपनी मूल प्रवृत्तियों के प्रेरणा से हर प्रकार के अपराध कर बैठता है जिसमें चोरी का अपराध भी है। अपराध की मनोवृत्ति रोकने के लिये बुद्धि की प्रखरता आवश्यक है।

प्रखर बुद्धिवाला व्यक्ति संसार में बहुत से ऐसे काम कर दिखाता है जिसके कारण उसे सुयोग्य मार्ग से ही इच्छित वस्तुएँ मिल जाती हैं। दूसरे प्रखर बुद्धिवाले व्यक्ति का सम्मान सभी लोग करने लगते हैं। उसका आत्मसम्मान का भाव भी बढ़ जाता है। इन कारणों से वह अपने आपको नीच काम करने से रोक लेता है। चरित्र निर्माण में आत्म-सम्मान की भावना बहुत ही आवश्यक होती है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक मंद बुद्धि का बालक अवश्यमेव चोर होता है। पर मंद बुद्धि अपराध करने में प्रेरणा अवश्य देती है। यहाँ यह कहना आवश्यक नहीं है कि चोरी करने के लिये कुछ बुद्धि की भी आवश्यकता होती है। बिल्कुल जड़ बुद्धि का व्यक्ति चोरी नहीं कर सकता, वह दूसरे प्रकार के अपराध भले ही कर ले।

जन्मजात मानसिक दुर्बलता में नैतिक कमजोरी कदापि न गिननी चाहिए। नैतिकता का भाव अभ्यास के ऊपर निर्भर है। मनुष्य में जन्म से नैतिकता की प्रवृत्ति अथवा अपराध की प्रवृत्ति

नहीं होती। ये प्रवृत्तियाँ समाज के संपर्क से ही आती हैं। बालकों में अच्छे वातावरण में रहने पर सदाचार का भाव उत्पन्न होता है। कभी-कभी हम चोर माता-पिता के पुत्र को भी चोर ही देखते हैं, ऐसा वंशानुक्रम के नियम के अनुसार नहीं; वातावरण के प्रभाव के कारण होता है।

इच्छा की प्रबलता—चोरी का एक और प्रधान कारण चुराई जानेवाली वस्तु के प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है। कभी-कभी इस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा उसकी अपनी कीमत के लिये नहीं होती वरन् वह बालक के मन में किसी दूसरी चाह की वस्तु का प्रतीक होने के कारण चुराई जाती है। पर साधारणतः यह अपनी उपयोगिता के लिये ही चुराई जाती है। कितने ही किशोर बालक खाने की चीजें चुरा लेते हैं और वे पैसे भी अधिकतर इसलिये चुराया करते हैं कि वे अपने खाने और शौक की चीजें खरीद सकें। इस प्रकार की चोरी का कारण बालक की अतृप्त इच्छा है। जिन बालकों को खाने-पीने और पहनने ओढ़ने की इच्छा में तृप्ति नहीं हो पातीं, वे बड़े होकर भी उस अतृप्ति के कारण बच्चे की ही अवस्था में बने रहते हैं। कठोर अनुशासन में रखे गए बालकों की भी यही दशा होती है। बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिये यह आवश्यक है कि उसके बालकपन की खाने, पहनने की इच्छा की तृप्ति भली भाँति कर दी जाय। बालक के आचरण के दोष इन्हीं अतृप्त वासनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं।

लेखक को हाल ही में एक पचास वर्ष की महिला मिली। लेखक ने जब उससे बालकों में चोरी करने की आदत का कारण पूछा तो उसने अपने जीवन का अनुभव कहकर बताया कि इसका प्रमुख कारण बालक की खाने की इच्छा का दमन है। यह इच्छा

तृप्त हो जाती है तब उसमें चोरी करने का भाव नहीं रहता। उसने आप बीती घटनाएँ सुनाईं। उसने कहा कि अपने माता-पिता के घर में हमलोग पाँच-छः बच्चे थे अतएव वहाँ हमारी खाने-पीने की इच्छा भली प्रकार से तृप्त नहीं हो पाती थी। जब ससुराल गई तो पति प्रायः नौकरी पर रहते थे। घर में नौकरानी जैसी रहकर काम करना पड़ता था। जेठ और उनके बच्चों के लिये मिठाई वगैरह बनानी पड़ती थी पर अपने लिये खाने को नहीं मिलती थी।

इसलिये वह कभी-कभी चोरी से मिठाई अलग रख देती और मौका मिलने पर खा लेती थी। पर कुछ पुस्तकें पढ़ने से आत्मबोध हुआ और अपने चोरी के काम से आत्म-ग्लानि उत्पन्न हुई। किंतु आदत पड़ जाने पर वह जल्दी नहीं छूटती। ईश्वर से प्रार्थना करती थी कि चोरी की आदत छूट जाय। अनेक दिनों की मानसिक लड़ाई के बाद वह आदत छूटी।

बहुत से बालक दूसरे बालकों की चीजें उन्हें तंग करने के लिये चुराते हैं। मजाक में तो हम अनेक बालकों को दूसरों की वस्तुएँ चुराते देखते हैं। पर ये बालक उन्हें लौटा देते हैं। किंतु जहाँ ईर्षा रहती है वहाँ बालक किसी दूसरे बालक का सामान चुराकर उसे नष्ट कर डालता है। दूसरों की चीज चुराकर फेंक देना एक साधारण सी आदत है। कितने शरारती बालक स्कूल का सामान चुराकर नष्ट कर देते हैं। टाम महाशय ने मेरी नामक एक बालिका की चौरप्रवृत्ति के संबंध में लिखा है। वह बालिका कहती थी कि मैं सभी बालकों की वस्तुएँ नहीं चुराती। बालिका ६ साल की ही थी, तो भी चोरी करने का परिणाम क्या है, जानती थी। अतएव चुराई हुई वस्तु को अपने पास नहीं रखती थी, उन्हें नष्ट कर डालती थी। मेरी की चुराने की आदत का अंत घर में अधिक हिफाजत होने से, उसे अच्छा खाना मिलने तथा सुंदर

कपड़े पहनने, नए स्कूल में भर्ती करने और वहाँ उसके स्कूल के काम में कुछ अधिक सावधानी रखने से हो गया। जब दूसरे बालकों के प्रति उसके मन में डाह नहीं रहा तो उसकी चोरी की आदत का अंत हो गया। मेरी पढ़ने लिखने में अन्यमनस्क, देखने में अनाकर्षक दुबली-पतली और साधारण बुद्धिवाली थी। वह कितने ही बालकों के डेस्क और पाकेटों से चीजें निकाल लेती थी। ऐसा वह तीन महीने तक करती रही। जब उसकी परीक्षा की गई तो कुछ पूछने के पहले ही उसने कहा कि मैं दोषी नहीं हूँ। चोरी के विषय में उससे कोई चर्चा नहीं की गई; उससे घर और स्कूल के विषय में बात-चीत की गई। इस प्रकार बालिका से प्रेम का वर्ताव करके उससे घनिष्ठता स्थापित करने की चेष्टा की गई। उससे प्रथम बार ही मिलने पर उसकी अपराध की मनोवृत्ति की चर्चा न करने का निश्चय कर लिया गया था। जब वह परीक्षा के कमरे से बाहर जा रही थी तब अपने आप ही कह उठी "मुझे कोई नहीं चाहता, न जाने क्यों? लड़कियाँ मुझे प्यार नहीं करतीं! वे मुझे थप्पड़ मारती हैं। मैं उन्हीं लड़कियों की वस्तुएँ चुराती हूँ जो मुझे तंग करती हैं और जिन्हें मैं नहीं चाहती।"

ईर्ष्या—टाम महाशय एक और बालिका का उदाहरण देते हैं जिसमें ईर्ष्या-भाव ही चोरी का कारण था। वह लड़की अपनी सहपाठी बालिकाओं की अनेक वस्तुएँ चुरा लेती थी। दो बार वह बच्चों के घर पर से भी चीजें चुरा लाई। इस बालिका की चोरी की आदत के विषय में यह विशेषता दिखाई पड़ी कि, वह बच्चों की ही चीजें चुराती थी। प्रौढ़ लोगों की चीजें कभी नहीं चुराती थी और जिन चीजों को चुराती थी उन्हें अपने काम में नहीं लाती थी, वरन् उन्हें नष्ट कर डालती थी। इस बालिका के विषय में अध्ययन करने से पता चला कि जब कभी

वह दूसरे बालकों को नया खिलौना या कपड़े आदि पाते देखती तब उन्हें चुराने और नष्ट कर डालने की चिंता करने लगती थी।

जो बालक ईर्ष्या के कारण चोरी करते हैं वे अपने माता-पिता के प्रेम से वंचित रहते हैं। यदि माता-पिता उन्हें ठीक से प्यार प्रदर्शित करें और उन्हें दूसरे बालकों से किसी प्रकार नीचा होने का अनुभव न होने दें तो वे चोरी की आदत छोड़ दें। जो मनुष्य स्वयं दुखी रहता है वह दूसरों को भी दुःखी बनाना चाहता है। बालकों को मार-पीटकर ईर्ष्या से नहीं छुड़ाया जा सकता। इससे बालक का मन और भी दुःखी होगा और उस की आदतें और भी जटिल हो जायँगी। जब तक बालक अपने मन में सुख का अनुभव नहीं करता तब तक वह कदापि यह नहीं चाहेगा कि दूसरे सुखी रहें। कितने ही बालक अपने गिरोह के प्रभाव में पड़कर चोरी करना सीख लेते हैं। कितने ही बालकों के गिरोहों के लिये चोरी करना एक खेल होता है। वे वस्तुओं की कीमत या उनके उपयोग के लिये चोरी नहीं करते। चोरी में सफल होने से उन्हें आनंद का अनुभव होता है। वे अपनी होशियारी और बहादुरी पर खुश रहते हैं। ऐसे गिरोह के बालकों की बुद्धि की जाँच करने पर उन्हें मंद बुद्धि का नहीं पाया गया। इन बालकों को सामाजिक भावनाओं का अनुभव रहता है। उन्हें समाज के उपयोगी कामों में लगाकर उनमें सामाजिक भावनाएँ जगायी जा सकती हैं। रचनात्मक कार्य ऐसे बालकों के लिये बड़े उपयोगी होते हैं। जब बालकों को अपनी वास्तविक महत्ता का ज्ञान होता है तब वे दूसरों को कष्ट देकर स्वयं आनंद लेना छोड़ देते हैं। रचनात्मक कार्य से बालक में आत्म-विश्वास आता है। वह अपनी कीमत पहचानने लगता है और अपनी शक्ति को विकृत मार्ग से प्रवाहित न कर सन्मार्ग से प्रवाहित करता है।

संगियों का प्रभाव—जब बालक में चोरी की आदत गिरोह के प्रभाव से आती है तब माता-पिता का धर्म हो जाता है कि उस गिरोह से उसे अलग करके कुछ ऐसे साथियों के साथ रखें जिनकी नैतिक भावना ऊँची है। माता-पिता वा अभिभावकों को इसलिये इस बात की जाँच करना आवश्यक है कि बालक कैसे साथियों के साथ रहता है। बालक के जीवन के आदर्श वैसे ही बन जाते हैं जैसे उसके साथियों के अथवा गिरोह के आदर्श होते हैं। दूसरे बालकों के आचरण और कहने का प्रभाव जितना बालक के आचरण पर पड़ता है उतना प्रौढ़ लोगों के आचरण और उपदेश का नहीं पड़ता। बालक के सबसे प्रभावकर शिक्षक दूसरे बालक होते हैं।

आत्मीहीनता का भाव—कभी-कभी बालकों में आत्म-हीनता का भाव चोरी का कारण बन जाता है। प्रत्येक बालक अपने साथियों से सम्मानित होना चाहता है, किंतु जब वह अच्छे रास्ते से अपनी सम्मानित होने की इच्छा को तृप्त नहीं कर पाता तब वह विकृत मार्ग का अनुसरण करता है। इस प्रसंग में टाम महाशय का दिया हुआ एक उदाहरण उल्लेखनीय है।

हेनरी नामक एक आठ वर्ष का संपन्न घर का बालक जिसके माता-पिता दोनों ही सुशिक्षित थे, एकाएक घर से पैसा चुराने लगा। इस पैसे से वह मिठाई खरीदकर अपने साथियों में बाँटा करता था। उस की चोरी की आदत का कारण खोजने से पता चला कि वह अपने साथियों से संमान प्राप्त करने के लिये ही चोरी करता था। उस का बड़ा भाई पढ़ने लिखने, खेल-कूद और सामाजिक कार्यों में आगे बढ़ा हुआ था। वह अपने छोटे भाई को अक्सर चिढ़ाने और नीचा दिखाने की चेष्टा करता रहता था। वह कसरत में अपने

साथी दूसरे बालकों से कम योग्यता रखता था, जिसके कारण उसे प्रायः बिना साथियों के रह जाना पड़ता था। उसे अपने अनुभव से ज्ञात हुआ कि दूसरे बालकों का प्रेम उन्हें कुछ खाने पीने की चीज देकर प्राप्त किया जा सकता है। इन चीजों को प्राप्त करने के लिये उसने चोरी का सहारा लिया।

बालक का इलाज उसे समर कैंप भेजकर कराया गया। उस कैंप में उसका बड़ा भाई नहीं भेजा गया था। उस बालक की आदत के विषय में कैंप डाइरेक्टर को पहले ही सूचित कर दिया गया था। उसने बालक को अपने से कम योग्यता वाले बालकों के साथ रखा जहाँ उसने अनेक चमत्कारपूर्ण काम कर दिखाए। इस प्रकार उसमें स्वावलंबन की भावना जाग्रत हो गई। उसकी आत्महीनता की भावना नष्ट हो गई और फिर जब वह घर आया तो वह अपने पुराने स्कूल में भी रचनात्मक कार्य करके अपने साथियों में संमानित होने लगा। इस तरह उसकी चोरी की आदत छूट गई। कितने ही बालक बहादुरी का काम समझकर चोरी करते हैं। चोरी करने में कुछ साहस से काम लेना पड़ता है। साहस के काम में आनंद मिलता है। इस आनंद की प्राप्ति के लिये चोरी की जाती है। बालक अपने साथियों से अपनी बहादुरी के कारनामें सुनाता है, इससे उसे आनंद मिलता है। इस प्रकार की चोरी में दूसरे बालकों के प्रभाव की भी बात रहती है। जिस गिरोह में बालक रहता है, यदि उसमें चोरी अपराध नहीं माना जाता और चोर की प्रशंसा होती है तो बालक में चोरी की आदत पड़ने की संभावना होती है।

बहादुरी—प्रत्येक बालक बहादुरी के काम करना चाहता है। यदि उसे चोरी में ही बहादुरी दिखाई पड़े तो वह चोरी क्यों न करे। एक बार संयुक्त प्रदेश के स्कूल के हेडमास्टरों के

पास एक जज का फैसला भेजा गया था। फैसला एक १४ वर्ष के बालक की चोरी के विषय में था। यह बालक दूसरे लोगों की साइकिल चुरा लेता था और उन्हें किन्हीं दूकानदारों के पास रखकर उनसे उधार चीजें लेता था। पर फिर लौटाता नहीं था। जब बालक पकड़ लिया गया तब उसकी जाँच करने से पता चला कि, वह एक भले घर का बालक है अपने संबंधियों को अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देकर खुश करने के लिये चोरी करता है। उसने चोरी करना एक सिनेमाफिल्म के दृश्य से सीखा। इस फिल्म को देखकर उसमें चोरी करने की प्रेरणा हो गई। जैसे-जैसे उसे सफलता मिलती गई वह चोरी के काम में बढ़ता गया। बालकों की कल्पना शक्ति बड़ी प्रबल होती है। वे जितना अपने काल्पनिक जगत में विचरण करते हैं उतना वास्तविक जगत में नहीं। हमारे सामान्य जीवन में बालकों की कल्पना को आकर्षित करने की कोई बात नहीं रहती। जब वे चोरी की बातें सुनते हैं तब बहादुरी से उनका हृदय प्रफुल्लित हो उठता है, वे बार-बार चोरों की बहादुरी के बारे में सोचते हैं और फिर उनकी कल्पनाएँ वास्तविक जगत में कार्यान्वित होने लगती हैं। यदि बालक को अपने साधारण जीवन में बहादुरी दिखाने का अवसर मिल जाय तो वह चोरों का अनुकरण करने की चेष्टा न करे। प्रत्येक बालक दूसरों की प्रसंशा पाने का इच्छुक रहता है। कुछ लड़के पढ़ने लिखने में प्रशंसा पा लेते हैं। जो इस प्रकार अपने साथियों की प्रशंसा प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते, वे दूसरे मार्ग की खोज करते हैं। बालकों में बाहरी खेल-कूद और साहस के कामों की वृद्धि और प्रोत्साहन होने पर उनकी अनुचित रूप से प्रशंसित होने की इच्छा नष्ट हो जाती है।

सत्रहवाँ परिच्छेद

बालकों का इंद्रिय-ज्ञान और निरीक्षण

मनुष्य के सभी प्रकार के ज्ञान का आधार इंद्रिय-ज्ञान है। इंद्रिय-ज्ञान भली प्रकार का होने से किसी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान होता है। पदार्थ-ज्ञान भली प्रकार से होने से स्मृति और विचार भी भली प्रकार से होते हैं। मनोविज्ञान में इंद्रिय-ज्ञान को सबसे सहज ज्ञान कहा है। यह इतना सरल है कि शुद्ध इंद्रिय-ज्ञान अर्थात् संवेदना मात्र का ज्ञान नवजात शिशु के अतिरिक्त और किसी को होना संभव नहीं। साधारणतः जो ज्ञान हमें होता है वह शुद्ध संवेदना न होकर पदार्थ-ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इंद्रिय-ज्ञान का विकास धीरे-धीरे होता है। जैसे-जैसे बालक का अनुभव बढ़ता है वह विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं को पृथक्-पृथक् करने समझने की चेष्टा करता है। इसी तरह वह यह जानता है कि किसी पदार्थ में कितने प्रकार की संवेदना की संभावना है।

संवेदनाओं के प्रकार—जो संवेदनाएँ हमें अपनी विभिन्न-इंद्रियों से प्राप्त होती हैं वे कई प्रकार की होती हैं। पुराने समय में लोग शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध इन पाँच प्रकार की संवेदनाओं को जानते थे जो हमें पाँच ज्ञानेंद्रियों अर्थात् कान, आँख, जीभ, नाक और त्वचा द्वारा प्राप्त होती हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने संवेदनाओं के अनेक भेद माने हैं। स्पर्श

संवेदना कई प्रकार की मानी गई है। जैसे दुख की गर्मी की, सर्दी की दबाव की, गति की संवेदना। इनके अतिरिक्त शरीर में चलनेवाली क्रियाओं की भी संवेदना होती है।

संवेदनाओं के भेद दो प्रकार के होते हैं। एक गुणभेद और दूसरा शक्तिभेद। रूप-संवेदना से स्पर्श-संवेदना भिन्न होती है। यह संवेदना का गुण-भेद है। फिर रूप संवेदना में भी कई प्रकार के गुण-भेद होते हैं। जैसे रंगों में कई रंग—लाल, पीले हरे आदि—होते हैं।

संवेदना में दूसरे प्रकार के मुख्य भेद शक्ति के होते हैं। लाल रंग, फीका अथवा गहरा हो सकता है; इसी तरह कोई आवाज धीमी अथवा तीक्ष्ण हो सकती है। इस प्रकार के भेद शक्ति के भेद होते हैं।

बालकों की इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा—बालकों की इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा के लिये अनेक प्रकार की शिक्षा-योजनाएँ बनाई गई हैं। इन शिक्षा योजनाओं में श्रीमती डा० मांटेसोरी की शिक्षा-पद्धति विशेष महत्त्व की मानी जाती है। इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा के दो उद्देश्य होते हैं। एक तो इंद्रियों की ज्ञान-शक्ति की वृद्धि करना और दूसरी उनकी ज्ञान-शक्ति को अधिक उपयोगी बनाना। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि इंद्रियों की शक्तियों की वृद्धि तो किसी प्रकार नहीं की जा सकती। बहरे को सुनने की शक्ति किसी शिक्षा से भी प्राप्त नहीं हो सकती। इसी तरह अंधे को देखने की शक्ति पैदा करना असंभव है। अतएव इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा का यही अर्थ हो सकता है कि अभ्यास के द्वारा बालकों को अपनी इंद्रियों से काम लेने में अधिक कुशल बनाया जाय। अभ्यास के द्वारा प्रत्येक मानसिक शक्ति उन्नत होती है। अतएव शिक्षा के द्वारा इंद्रियों

को अपना काम ठीक से करने में भी अधिक कुशल बनाया जा सकता है। इसी धारणा के आधार पर मेडम मांटेसोरी ने बालकों के लिये अपनी नई शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया।

मेडम मांटेसोरी ने 'डाईडेक्टिक ऐपरेटस' नामक शिक्षा के कुछ सामान का आविष्कार किया। इसके द्वारा बालकों को उनके पेशियों की शिक्षा, हाथ और आँख को ठीक से काम में लाने की शिक्षा, आदि प्रत्येक इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा दी जाती है। आँख के ज्ञान की शिक्षा के लिये विभिन्न आकार और बनावट के पदार्थ रहते हैं। इन्हें ठीक तरह से पहचानना पड़ता है। इसी तरह रंगों के पहचानने की शिक्षा दी जाती है। लाल, पीले, नीले, हरे आदि रंगों की छोटी-छोटी तख्तियों की जोड़ियाँ होती हैं। एक रंग की एक तख्ती निकालकर बालक को दे दी जाती है। फिर बालक इसी रंग की दूसरी तख्ती निकालता है।

स्पर्श-ज्ञान की शिक्षा देने के लिये बालक की आँखें बाँध दी जाती हैं। फिर वह छूकर पदार्थों की पहचान करता है। उनका खुरदरापन तथा विशेष प्रकार की आकृति छूकर पहचानी जाती है। इसी तरह डाइडेक्टिक ऐपरेटस के द्वारा वजन का भी ज्ञान कराया जाता है।

सुनने की शिक्षा भी डाइडेक्टिक ऐपरेटस के द्वारा दी जाती है। कुछ पोले डब्बे से बने रहते हैं जिनमें विभिन्न आकार के छर्रे भरे रहते हैं। इन्हें बजा-बजाकर बालक छोटे-बड़े छर्रों की पहचान करता है। फिर प्रत्येक डब्बे को उसी प्रकार के दूसरे डब्बे के पास रखता है। कान की शिक्षा के लिये बालक की आँखें बाँधकर उसे दूर से बुलाया जाता है। वह आवाज के आधार पर बुलाने वाले को पकड़ने की चेष्टा करता है।

बालकों को घंटी बजा-बजाकर एक लकीर के ऊपर चलाया जाता है। इस प्रकार के कार्य से बालक का शारीरिक व्यायाम हो जाता है और साथ ही उसे पेशियों को काम में लाने की शिक्षा मिलती है।

मेडम मांटिसोरी की शिक्षा-प्रणाली वर्तमान शताब्दी में सभी सभ्य देशों में प्रचलित है। मांटिसोरी का उद्योग सराहनीय है, किंतु उनकी इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा की उपयोगिता के विषय में बहुत से प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक उनसे सहमत नहीं हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियमस्टर्न मेडम मांटिसोरी की डाइडेक्टिक एपरेटस के द्वारा इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा को अनुपयोगी सिद्ध करते हैं। इसी तरह अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री 'किनपैट्रिक' महाशय उनकी इंद्रिय-ज्ञान संबंधी शिक्षा-पद्धति को अमनोवैज्ञानिक सिद्ध करते हैं। इनका कथन है कि मेडम मांटिसोरी उस फारमल ट्रेनिंग के सिद्धांत में विश्वास करती हैं जो आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों के द्वारा अमनोवैज्ञानिक सिद्ध हुआ है। मेडम मांटिसोरी का विश्वास है कि बालक रंग परखने, आकृति पहचानने, वजन पहचानने आदि की जो योग्यता डाइडेक्टिक एपरेटस के द्वारा मांटिसोरी स्कूल में प्राप्त करता है, वह उसे बड़े होने पर सामान्य जीवन में भी काम आवेगी। किंतु बात ऐसी नहीं है। इंद्रिय-ज्ञान संबंधी जो योग्यता बालक डाइडेक्टिक ऐपरेटस के द्वारा प्राप्त करता है वह उस ऐपरेटस के पदार्थों के ही आकार-प्रकार तथा दूसरे गुणों के पहचानने के काम आती है। वह जीवन में काम में आने वाले साधारण पदार्थों को पहचानने में उपयोगी सिद्ध नहीं होती। मान लीजिए, एक बालक आधे माशे के अंतर वाली दो वस्तुओं के वजन को पहचान लेता है। क्या इसका यह अर्थ है कि वह ऐसे

दो लिफाफों की ठीक से पहचान कर सकेगा जिनके वजन में आधे माशे का अंतर है ? यदि मेडम मांटेसोरी की इंद्रिय-शिक्षा की कोई उपयोगिता है तो ऐसा कर सकना संभव होना चाहिए। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। इसी तरह डाइडेक्टिक ऐपरेटस की तख्तियों की रंग का अथवा उनका खुरदरापन रेशम की साड़ियों का रंग और खुरदरापन पहचानने में विशेष सहायक नहीं होता।

आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोग यह दर्शाते हैं कि मनुष्य को किसी प्रकार की शिक्षा, यदि उसे हमें जीवन के लिये उपयोगी बनाना है तो ऐसे रूप से देनी चाहिए जो जीवन के कामों से मिलते-जुलते हों। यदि बालक को कपड़े के रंग पहचानने में कुशल बनाना है तो उसे शिक्षा के समय भी कपड़े के रंग की पहचान करवाना ही लाभकर सिद्ध होता है। इसी तरह लकड़ी का खुरदरापन पहचानना आगे चलकर लकड़ी का खुरदरापन पहचानने के ही काम में आता है। मेडम मांटेसोरी ने डाइडेक्टिक ऐपरेटस के द्वारा जो इंद्रियज्ञान की शिक्षा देने की चेष्टा की है वह इसलिये व्यर्थ है कि बालकों को आगे चलकर प्रौढ़ावस्था में डाइडेक्टिक ऐपरेटस की वस्तुओं से मिलती-जुलती वस्तुओं से कोई संबंध नहीं रहता।

स्टर्न महाशय ने मेडम मांटेसोरी की इंद्रियज्ञान की शिक्षा में एक और बड़ा दोष बताया है। मेडम मांटेसोरी एक ही इंद्रिय की शिक्षा एक बार करने के सिद्धांत पर बड़ा जोर देती हैं; अर्थात् वे इंद्रियों को पृथक-पृथक करके शिक्षित बनाने की चेष्टा करती हैं। इस प्रकार की शिक्षा इसलिये अनुपयोगी और अमनोवैज्ञानिक है कि आगे चलकर बालक को कई इंद्रियों को एक ही साथ काम में लाना पड़ता है। काम की सफलता इंद्रियों

के काम करते समय सहयोग पर निर्भर करती है। परस्पर सहयोग से काम करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है। बालकों को सफल कार्यकर्त्ता बनाने के लिये उन्हें ऐसे काम करने का अभ्यासी बनाना चाहिए जिनमें उन्हें अपनी कई इंद्रियों को एक ही साथ काम में लाने की आवश्यकता पड़ती है। मेडम मांटेसोरी जो अपनी शिक्षा-पद्धति में इंद्रियो का अभ्यास कराती हैं वह ठीक इसके विपरीत है।

इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा के लिये सर्वोत्तम यही है कि बालकों को एक विशेष प्रकार का डाइडेक्टिक ऐपरेटस न देकर अनेक प्रकार के खेल खेलने की शिक्षा दी जाय। बच्चे जो गुड़ियों का खेल खेलते हैं उससे मेडम मांटेसोरी के ऐपरेटस की अपेक्षा कहीं अधिक इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा मिलती है। बालकों से गीली मिट्टी के अनेक प्रकार के खिलौने बनवाना चाहिए। इसमें वे रुचि भी लेते हैं। इसी तरह नए-नए खेलों का हमें आविष्कार करना चाहिए और उन्हें बालकों को सिखाना चाहिए। इन खेलों से बालकों की मौलिक इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा होती है। दूसरे इनमें पैसा कम खर्च होता है। मेडम मांटेसोरी का ऐपरेटस भारतवर्ष के देहाती बालकों के लिये बड़ा मँहगा है और उसकी उपयोगिता भी वास्तव में बहुत कम है। भारतवर्ष में यदि किंडर गार्डेन शिक्षा पद्धति का प्रचार हो, जैसा कि उसका प्रचार अमेरिका में है, तो हमारे बालकों का बड़ा कल्याण हो। किंडर गार्डेन के खेलों से बालकों में कल्पना के विकास के साथ-साथ उचित इंद्रिय ज्ञान भी सरलता से होता है।

अठारहवाँ परिच्छेद

बालक की कल्पना

बाल्यकाल में कल्पना की महत्ता—बालकों के जीवन में कल्पना का बहुत महत्त्व है। बालक के सुख की सामग्री बड़ी परिमित रहती है। उस सामग्री के उपार्जन करने की शक्ति भी उसमें परिमित होती है तथा उसे सदा बड़े-बूढ़ों के नियंत्रण में रहना पड़ता है। उसे न तो अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने का अवकाश मिलता है और न मनमाना कार्य करने की स्वतंत्रता। ऐसी दशा में कल्पना-शक्ति ही उसके जीवन का सहारा होती है। जब बालक को भूख लगती है और मनचाही वस्तुएँ खाने को नहीं मिलतीं तब वह सूखी बासी रोटी को ही हलवा पूड़ी के स्वाद से खाता है। जो त्रुटियाँ उसके भोजन में रहती हैं उनकी पूर्ति वह अपनी कल्पना के द्वारा कर लेता है। जब कोई बलवान व्यक्ति उसे पीट देता है तब वह उसका बदला अपनी कल्पना में लेता है। कल्पना के द्वारा बालक अपनी खटिया को पालकी बना लेता है और उसमें बैठकर आ जा सकता है। कभी-कभी बालक एक लकड़ी को अपनी टाँगों के बीच करके खूब दौड़ते हैं। इस प्रकार के दौड़ने में उन्हें घोड़े की सवारी का सा आनंद प्राप्त होता है।

यदि बालक को अपने काल्पनिक संसार में विचरण न करने दिया जाय तो उसका जीवन भार हो जाय। बालक पर जो आपत्तियाँ और दुःख पड़ते हैं वे कल्पना के द्वारा भुला दिए जाते हैं। इस तरह बालक की रचनात्मक शक्ति का व्यर्थ ह्रास नहीं होता। जो व्यक्ति अपनी पुरानी दुःखद स्मृतियों पर अधिक सोचता है अथवा वर्तमान कठिनाइयों पर सदा विचार करता रहता है वह जीवन में हतोत्साह हो जाता है। कल्पना इस हतोत्साहिता का निवारण करती है।

जीवन-विकास—कल्पना का लक्ष्य भविष्य में रहता है वह आगे की ओर देखती है जब कि स्मृति पीछे की ओर। अतएव जिस व्यक्ति का जीवन जितना ही विकासोन्मुख होता है उसमें उतनी ही अधिक सुंदर कल्पनाएँ पाई जाती हैं। संसार के जितने भी महल बने हैं पहले कल्पना में बने हैं। काल्पनिक उड़ान एक दिन वास्तविक उड़ान में परिणत हो जाती है। बालक का जीवन प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक विकासोन्मुख रहता है। अतएव उसके लिये प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा कल्पना में अधिक विचरण करना स्वाभाविक है। यह उसके स्वास्थ्य और उन्नति का सूचक है। जितनी कल्पना का होना प्रौढ़ व्यक्ति के जीवन में मानसिक रोग का कारण माना जाता है, उतनी कल्पना का बालक के जीवन में होना सामान्य और स्वाभाविक मानना चाहिए।

आत्म-प्रकाशन—कल्पना बालक के आत्म-प्रकाशन का प्रथम प्रयास है। बालक जिस विषय का पहले चिंतन करता है बाद में उसे करने ही लगता है। खेल का जो संबंध जीवन के कठिन जिम्मेदारियों के काम से है वही संबंध कल्पना का वास्तविक वस्तुओं के निर्माण से है। जिसने कल्पना में बड़े काम नहीं किए वह वास्तविक जगत में करेगा ही क्या?

नैतिक और सामाजिक जीवन—कल्पना का विकास केवल बालक के वैयक्तिक जीवन को सुखी बनाने के लिये ही आवश्यक नहीं है वरन् वह उसके नैतिक और सामाजिक जीवन के विकास के लिये भी आवश्यक है। जिस व्यक्ति की कल्पना जितनी ही प्रबल होती है उस व्यक्ति में दूसरों के प्रति सहानुभूति का भाव उतना ही प्रबल होता है। कविता, कला, साहित्य, आदि सभी का आधार कल्पना है। सहानुभूति की शक्ति के विकसित हुए बिना इनका निर्माण संभव नहीं। सहृदयता, दया आदि सद्गुण मनुष्य में कल्पना के द्वारा आते हैं। ये यही गुण नैतिकता और सामाजिक जीवन के आधार हैं। हमारे शिक्षालयों में जैसे-जैसे कल्पना को विकसित करने वाले साधनों का लोप होता जा रहा है, मानव समाज वैसे ही वैसे बर्बरता की ओर बढ़ता जा रहा है। बालकों की कल्पना-शक्ति का दमन करने से हम उनमें मानवता के गुणों का विकास अवरुद्ध कर देते हैं।

बालक की कल्पना की विशेषताएँ

बालक की कल्पनाएँ प्रौढ़ लोगों की कल्पनाओं से कई बातों में भिन्न होती हैं। इन विशेषताओं को जानना उनके भली प्रकार से लालन-पालन और शिक्षा के लिये आवश्यक है। इन विशेषताओं में तीन मुख्य हैं—सजीवता, तारंगिकता, और प्रतीकता।

सजीवता—प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा बालकों की कल्पना अधिक सजीव होती है। इस सजीवता के कारण बालक वास्तविक और काल्पनिक पदार्थ में भेद नहीं कर पाता। जब बालक से कोई कहानी कही जाती है तब वह उसे बड़े चाव से सुनता है। इसका एक कारण यह है कि बालक कहानी में कहे गए

पदार्थों को इस तरह अपनी कल्पना में देखता है जैसे कि वे वास्तविक दृश्य के पदार्थ हों। जो आनंद एक प्रौढ़ व्यक्ति सिनेमा के चित्रों को देखकर पाता है वही आनंद बालक कहानी सुनकर पाता है। प्रौढ़ व्यक्तियों से जब कहानी कही जाती है तब मानसिक चित्र चित्रित करने की शक्ति परिमित होने के कारण वे कहानियों का शाब्दिक आनंद मात्र लेते हैं। बालकों की मानसिक स्थिति दूसरे ही प्रकार की होती है। बालकों की कल्पना की सजीवता उनके अनेक झूठ का कारण बन जाती है। इस प्रसंग में होमरलेन महाशय का दिया हुआ एक उदाहरण उल्लेखनीय है।

एक बालक अपनी माँ के पास भयभीत अवस्था में आया और उसने कहा कि मेरा पीछा एक काले रीछ ने किया है। माँ बोली, 'नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता।' किंतु बालक भय की बात कहता ही रहा और उसने अपनी माँ को विश्वास दिलाने के लिये खिड़की के बाहर उँगली दिखा कर कहा, यदि नहीं मानती हो तो स्वयं देख लो। माँ ने उस ओर देखा और एक काले कुत्ते को बगीचे में सोया हुआ पाया। फिर माँ बोली, "अरे शैतान लड़के तूने जान बूझ कर झूठ बोला, जाओ अब तुम अपने बिस्तरे के पास घुटना टेक खड़े होकर भगवान से कसूर माफ करने के लिये प्रार्थना करो। बच्चे ने माँ का कहना माना और बड़ी दृढ़ता के साथ अपनी माँ से कहा, 'माँ, सब ठीक है। ईश्वर ने मेरी बात सुन ली और उसने कहा कि तुम परवाह मत करो। तुम्हारे 'फिडो' (कुत्ते) को मैंने कभी भूल से रीछ मान लिया था।

इस दृष्टांत में बालक पहले से ही कोई झूठ नहीं बोला था। वह जो कुछ कह रहा था, सत्य ही कह रहा था। उसने उस

काले कुत्ते की ओर देखा और उसे रीछ मान लिया। फिर उसने अपनी कल्पना में यह देखा कि वह रीछ उसका पीछा कर रहा है। उसके मन में भय उत्पन्न हो गया। भय होने पर उसे ज्ञात होने लगा कि कोई वास्तविक रीछ उसके पीछे दौड़ रहा है। जिन बालकों को बार-बार हौआ, गोगी, बनबिलार आदि वास्तविक अथवा काल्पनिक पदार्थों से डरवाया जाता है, वे रात को अकेले रहने पर उन्हें सचमुच देखने लग जाते हैं।

तारंगिकता—बालकों की कल्पनाएँ प्रौढ़ व्यक्तियों की कल्पनाओं की अपेक्षा अधिक तारंगिक होती हैं। वे अपनी कल्पना में सदा ऐसे पदार्थ देखते हैं जिनका वास्तविक जगत् में पाया जाना असंभव है। प्रौढ़ावस्था की कल्पना वास्तविक जगत् के नियमों से नियंत्रित रहती है। बालक की कल्पनाएँ इस प्रकार के नियंत्रण नहीं मानतीं। जो कल्पना वास्तविक जगत् से जितनी ही दूर होती है वह बालक को उतनी ही प्रिय होती है। जानवरों का आपस में मनुष्य जैसा बोलना—मगर और बंदर की बात-चीत, चूहे और कबूतर की बात-चीत, ऊँट और सियार की बात-चीत—आदि कहानियाँ उन्हें बड़ी रोचक प्रतीत होती हैं। इसी तरह राक्षसों की और किसी छोटे बालक की अथवा बौने की असंभव करामातों की कहानियाँ बड़ी रोचक होती हैं। यदि कहानियों में साधारण घटनाओं का वर्णन किया जाय तो शीघ्र ही छोटे बालकों का मन ऊब जायगा। हितोपदेश की कथाएँ और ईसप की कहानियाँ इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर ही लिखी गई थीं। बालकों की कहानियों में सदा यह ध्यान रखना होगा कि उनके मनोविकास के अनुकूल घटनाओं का उनमें चित्रण हो।

प्रतीकता:—बालक की कल्पना सदा उसकी किसी छिपी

हुई इच्छा की प्रतीक होती है। बालक की छिपी हुई इच्छा उसकी कल्पनाओं में प्रकाशित होती है। कितने ही बालकों को अकारण भय होता है। उनके किसी भय को हटा देने पर दूसरा उसी प्रकार का भय उनके हृदय में स्थान कर लेता है। अतएव उनके भय का निवारण समझा-बुझाकर नहीं किया जा सकता बल्कि उनकी छिपी हुई इच्छा को जानकर किया जा सकता है। डाक्टर होमरलेन का कथन है कि जिस बालक की दूध पीने की इच्छा की पर्य्याप्त तृप्ति नहीं होती उसे अंधकार से अकारण भय उत्पन्न हो जाता है। वह अंधकार में अनेक भयानक वस्तुएँ देखता है। जब प्रकाश लाकर बालक से कहा जाता है कि अंधकार में कोई डरावनी वस्तु नहीं है तब उसे क्षणिक ऊपरी आश्वासन अवश्य होता है किंतु उसका वास्तविक भय नष्ट नहीं होता। उसकी अंधकार में डरने की आदत बनी ही रहती है। उसका वास्तविक भय बाहर नहीं रहता वह तो उसके भीतर रहता है। जब तक इस भीतरी भय का निराकरण नहीं होता, उसकी डरने की आदत बनी रहती है।

बालक के कल्पना-विकास के उपकरण

बालक की कल्पना के विकास के चार प्रमुख उपकरण हैं—खेल, कहानियाँ, अभिनय और कला।

खेल—बालकों की कल्पना के विकास का सबसे प्रमुख साधन खेल है। बालक के खेल में पहले पहल हाथों के काम का अधिक स्थान रहता है, पीछे उसके खेलों में कल्पना और विचार की आवश्यकता होने लगती है। बालक जब मिट्टी से बैल, घोड़ा आदि बनाता है तब पहले वह इन पदार्थों की कल्पना करता है।

इसी तरह मकान पुल आदि बनाते समय बालक को इनकी कल्पना करनी पड़ती है। खेल को सजाने के लिये भी कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है, उसके खेलों में अधिकाधिक कल्पना की आवश्यकता होने लगती है। खेल के पदार्थों के विभिन्न उपयोगों के लिये उसे कल्पना करनी पड़ती है। खेल में आने वाले गुड्डी-गुड्डे बहुत से कार्य करते हैं। ये सब काम बालक की कल्पना में ही होते हैं। बिना इन काल्पनिक कार्यों के गुड्डा-गुड्डियों से बालकों का खेलना संभव ही नहीं। जिन शिक्षा प्रणालियों में बालकों के खेल में बालकों की कल्पना को स्थान नहीं दिया जाता और बहुत से लकड़ी के अर्थहीन पदार्थ बालक के सामने रख दिए जाते हैं वे बालक की आत्म-स्फूर्ति का विनाश करते हैं। बालकों के बहुत से खेल मगर, भालू आदि बनने के होते हैं। इन खेलों से बालक की कल्पना का विकास होता है। वास्तव में खेल कोरी शारीरिक क्रिया का ही नाम नहीं है। खेल कल्पनामयी शारीरिक क्रिया का नाम है। जिन खेलों में कल्पना के लिये स्थान नहीं रहता वे वस्तुतः खेल नहीं हैं, ताड़ना के समान हैं। मांटेसोरी शिक्षा-पद्धति में काल्पनिक खेलों को कोई स्थान नहीं दिया गया है। यह मेडम मांटेसोरी की बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक भूल है। इस विषय में फ्रोबल महाशय की शिक्षा-पद्धति उत्कृष्ट है। किंडर-गार्टन शिक्षालयों में बालकों को अनेक ऐसे खेल खिलाए जाते हैं जिनसे उनकी कल्पना की वृद्धि होती है।

कहानियाँ—बालकों की कल्पना के विकास का दूसरा साधन कहानियाँ हैं। बालकों की कहानियों में हमारे साधारण जीवन का चित्रण मात्र न होना चाहिए। इस प्रकार की कहानियाँ प्रौढ़ लोगों के उपयुक्त होती हैं। बालकों की कहानियाँ

उनके मन में आनंद उत्पन्न करने वाली होनी चाहिए। छोटे बालकों के लिये जानवरों और राक्षसों आदि की कहानियाँ रोचक होती हैं। किशोर बालकों को वीर गाथाएँ सुनाना चाहिए। मेडम मांटेसोरी ने अपनी शिक्षा-प्रणाली में कहानियों को, विशेषकर असंभव बातों की कहानियों को, कोई स्थान नहीं दिया है। उनका कथन है कि इससे बालक में अंध-विश्वास बढ़ता है, किंतु उनकी यह धारणा बालक के मनोविकास के नियम के प्रतिकूल है। जिस प्रकार मनुष्य समाज ने बर्बरता से सभ्यता की ओर उन्नति किया है, उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में विकास की सभी सीढ़ियाँ पार करता है। बालक को एकाएक विवेकी बनाने की चेष्टा करना उसपर बरबस प्रौढ़त्व लादने की चेष्टा करना है। जब बालक में विवेक धीरे-धीरे स्वाभाविक क्रम से विकसित होता है तभी वह उसका अपना होता और उसके जीवन में काम आता है।

बालकों को कहानियों में किसी प्रकार की समस्याएँ नहीं रखना चाहिए। वे सरल भाषा में कही जानी चाहिए और धीरे-धीरे उन्हें सुनाना चाहिए। कभी-कभी कही हुई कहानियाँ बालकों से दुहराना चाहिए। जहाँ तक हो सके कहानियों को हावभाव से कहना चाहिए।

अभिनय—बालक की कल्पना के विकास का तीसरा साधन अभिनय है। सभी बालकों में अभिनय की प्रवृत्ति होती है। बालकों के बहुत से खेल अभिनय के होते हैं। बालक जब सिपाहियों को एक लाइन में चलते देखता है तब वह स्वयं सिपाहियों का अभिनय करने लगता है। बच्चे रामलीला देखने पर घर आकर उसी का अभिनय करने लगते हैं। छोटे-छोटे बालक कभी-कभी शेर-भालू का भी अभिनय करते और

एक दूसरे को डराते हैं। बड़े बालक किसी सामाजिक विषय का अभिनय करते हैं; उदाहरणार्थ, न्याय का अभिनय, युद्ध का अभिनय, इत्यादि। बालकों के कल्पना-विकास के लिये इस प्रकार के अभिनय बड़े उपयोगी होते हैं। जिन अभिनयों में अनेक बालक मिलकर काम करते हैं उनमें बालकों की रचनात्मक प्रवृत्ति की अनेक प्रकार से वृद्धि होती है। बालकों को अपने-अपने पाठ सोचने पड़ते हैं और दूसरे पात्र क्या करेंगे इसकी कल्पना करनी पड़ती है। इस प्रकार की अभिनयों की कल्पनाएँ जीवन के कार्यों में बड़ी लाभदायक होती हैं। शिक्षकों को चाहिए कि जहाँ संभव हो किसी पाठ का बालकों से अभिनय करावें। इससे उसकी रोचकता बढ़ जाती है और वह उनको शीघ्र याद हो जाता है। साथ ही साथ उनकी कल्पना भी विकसित होती है।

कला—बालकों की कल्पना का विकास करने का चौथा साधन कला है। कला का प्राण ही कल्पना है। कविता, संगीत, हस्तकला सभी में कल्पना की आवश्यकता होती है। जब बालक कोई चित्र बनाता है तब पहले वह चित्र के भाव को अपनाता है, उसकी अनुभूति करता है और उसके साथ *आत्म-साक्षात्* करता है। इस तरह उसकी कल्पना का प्रसार होता है। चित्रकार अपने हृदय के सौंदर्य को ही चित्र में अंकित करता है। सुंदर कलाकार की कल्पना सुंदर होती है। इसका प्रभाव कलाकार के आचरण पर भी पड़ता है। सौंदर्योपासना मनुष्य की दैवी विभूतियों को विकसित करती है। उसके मन में सुंदर विचार लाती है और उसे परमानंद का आस्वादन कराती है। संसार के सुधार की आशा कलाकारों से है। तार्किक विचार और बुद्धि-वाद मनुष्य को शुष्क और हृदयहीन प्राणी बनाते जा रहे हैं।

कला के लोप होने के साथ-साथ मानव-समाज से सभी दैवी गुणों का लोप होता जा रहा है। पुराने समय में धार्मिक विचारों के द्वारा कला की रक्षा होती थी। वैज्ञानिक विचार के प्रवाह ने धार्मिक भावनाओं को मनुष्य के हृदय से निर्मूल कर दिया। अतएव जो कलारूपी पुष्प इन भावनाओं के ऊपर प्रकाशित होते थे वे भी अदृश्य में विलीन हो गए। कला की उपासना के विनष्ट होने से मनुष्य की सर्वोच्च कल्पना के विकसित होने का साधन भी जाता रहा। मानव-समाज के पुनरुद्धार के लिये अब बालकों में शिशुकाल से ही कला की प्रवृत्ति बढ़ाना आवश्यक है।

बालकों की स्मरण-शक्ति

बाल्य जीवन में स्मरण-शक्ति का महत्त्व—प्रत्येक मनुष्य के जीवन में, चाहे उसकी कितनी ही अवस्था क्यों न हो, स्मरण-शक्ति का महत्त्व होता है। बिना स्मरण-शक्ति के मनुष्य अपने पुराने अनुभव से लाभ नहीं उठा सकता। किसी विषय पर विचार करने के लिये उससे संबंध रखने वाले अनुभवों का स्मरण करना आवश्यक है। स्मरण-शक्ति के नष्ट होने पर मनुष्य कोई भी बुद्धिमानी का कार्य नहीं कर सकता। यदि किसी मनुष्य को कल की बात याद नहीं रहती तो वह आज का काम भली प्रकार से नहीं कर सकता। वह अपने वचनों का भी ठीक रीति से पालन नहीं कर सकता।

एक दृष्टि से देखा जाय तो बाल्य काल में स्मरण करने की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी प्रौढ़ावस्था में होती है। बाल्य-काल कल्पना का काल है। कल्पना की दृष्टि भविष्य की ओर रहती है जब कि स्मृति की दृष्टि भूत-काल की ओर होती है।

बालक के मंसूबे बड़े-बड़े होते हैं। वह इन मंसूबों को पूरा करने में अपनी चेतना लगाता है। इसके प्रतिकूल प्रौढ़ व्यक्ति अपनी स्थिति को स्थिर रखने में अधिक चिंतित रहता है। इसके लिये उसे अपनी पुरानी भूलों को स्मरण करना तथा अपने पुराने अनुभव के आधार पर नए मार्ग के विषय में सोचना आवश्यक होता है। कहा जाता है कि जब मनुष्य भूतकाल का गुण गाने लगे तब समझना चाहिए कि उसका बुढ़ापा आ गया। होनहार व्यक्ति काल्पनिक जगत में विचरण करता है और भविष्य के विषय में सोचता है।

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकालना कि बालक को किसी प्रकार की स्मरण-शक्ति की आवश्यकता नहीं है, युक्तिसंगत नहीं। बालक को अपनी कल्पना के लिये स्मृति की आवश्यकता होती है क्योंकि कल्पना कितनी ही स्वतंत्र क्यों न हो वह एक प्रकार की स्मृति ही है। बालक अनेक प्रकार के अनुभव करता है जो उसके मन के किसी कोने में पड़े रहते हैं। वह अपने पुराने अनुभवों के विषय में नहीं सोचता, इसलिये उसमें किसी प्रकार की क्रम-बद्धता नहीं हो पाती। बालक के अनेक प्रकार के अनुभव एक दूसरे से संबद्ध नहीं होते। अतएव वे एक दूसरे के स्मरण करने में भी सहायक नहीं होते। किंतु फिर भी यह अनुभव उसके ज्ञान तथा कल्पना के विकास में काम आते हैं।

उक्त कथन को भली प्रकार से समझने के लिये हमें स्मृति के विभिन्न अंगों को जानना आवश्यक है। इन्हें जानकर ही बालक की स्मृति की विशेषताएँ और उसकी वृद्धि के उपाय अच्छी तरह से समझे जा सकेंगे।

स्मृति के अंग—स्मृति के तीन प्रमुख अंग माने जाते हैं—धारणा, स्मरण, और पहचान। इनके अतिरिक्त कुछ मनोवै-

ज्ञानिकों ने 'सीखने' को भी स्मृति का एक अंग माना है। किंतु 'सीखना' शब्द कभी-कभी इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है कि उसके अंतर्गत स्मृति के सभी अंगों का समावेश हो जाता है।

धारणा किसी अनुभव के संस्कारों का मन में ठहरने का नाम है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों (जड़वादी) के अनुसार धारणा का आधार मस्तिष्क के संस्कार होते हैं। चेतनवादी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इसका कारण मानसिक संस्कार होते हैं। ये संस्कार जितने ही दृढ़ होते हैं, धारणा उतनी ही प्रबल होती है। किसी प्रकार के ज्ञान के संस्कार दृढ़ करने के लिये उसे मन में बार बार दोहराना आवश्यक होता है। किसी प्रकार के ज्ञान को बार-बार दोहराने के लिये उसमें वास्तविक रुचि की भी आवश्यकता होती है। रुचि के साथ किसी विषय को एक बार भी पढ़ने से उसके विषय में जितने संस्कार दृढ़ होते हैं उतने अरुचि के साथ कई बार पढ़ने से भी नहीं। संस्कारों से प्राप्त ज्ञान की दृढ़ता हमारे स्वास्थ्य पर भी निर्भर करती है। थकावट की अवस्था में याद किया हुआ विषय देर तक याद नहीं रहता। किसी विषय के याद करने के लिये मस्तिष्क का ताजापन आवश्यक होता है।

स्मरण का आधार विभिन्न प्रकार के अनुभवों का एक दूसरे से संबंध है। जो अनुभव जितना ही दूसरे अनुभवों से अनेक प्रकार से संबंधित होता है उसकी चेतना की सतह पर आने की उतनी ही संभावना रहती है। एक ज्ञान और दूसरे ज्ञान में तीन प्रकार के संबंध माने गए हैं। ये हैं क्रमानुगतता, समानता और विरोध। जिन दो प्रकार के पदार्थों को हम अनेक बार देखते हैं वे एक दूसरे को स्मरण कराते हैं। जिस क्रम से किसी विषय के विभिन्न अंगों का हमें पहले अनुभव हुआ उसी क्रम से वह हमें

स्मरण भी होता है। स्मरण के समय एक अंग का ज्ञान दूसरे अंग के ज्ञान को चेतना की सतह पर लाने में एक सूत्र का काम करता है। मान लीजिए किसी बालक ने एक से सौ तक गिनती कई बार दोहराई है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक संख्या आगे आने वाली संख्या के लिये उत्तेजक का काम करती है। बालक से यदि उल्टी गिनती कहने को कहा जाय तो उसे बड़ा कठिन प्रतीत होगा। इसका कारण यही है कि इस तरह से उसके मन पर गिनती के संस्कार नहीं पड़े।

समानता के नियम के अनुसार दो समानधर्मी वस्तुएँ एक दूसरे को स्मरण कराती हैं। जब हम हजरत ईसा का चिंतन करते हैं तब हमें बुद्ध भगवान का भी स्मरण आता है। दोनों में ही प्रेम और दया का भाव परिपूरित था। एक देश-भक्त दूसरे देश-भक्त का स्मरण कराता है और एक अत्याचारी दूसरे अत्याचारी का। यदि हमारे स्मरण में यह नियम काम न करे तो हम अपने पुराने अनुभवों से उतना मौलिक लाभ न उठा सकें जितना उठाते हैं। किसी नियम को स्थिर करने के लिये समधर्मी वस्तुओं को इकट्ठा करना आवश्यक होता है। सम धर्मी वस्तुएँ एक दूसरे को स्वत: स्मरण कराती हैं। जिस व्यक्ति की स्मरण-शक्ति दूसरों से जितनी ही तीव्र होती है वह विचार में भी दूसरों से उतना ही आगे रहता है।

विरोध का नियम वहाँ काम करता है जहाँ एक वस्तु अपने से विरुद्ध धर्म वाली दूसरी वस्तु को स्मरण कराती है। अकबर का चरित्र औरंगजेब के चरित्र को स्मरण कराता है। कभी-कभी कोई दयालु व्यक्ति किसी विशेष क्रूरकर्मा अथवा कंजूस का स्मरण कराता है। काला रंग सफेद रंग को स्मरण कराता है। इस प्रकार के स्मरण में विरोध का नियम काम करता है।

पहचान स्मृति का तीसरा अंग है। किसी किसी मनोविज्ञानिक ने इसे अर्द्ध-स्मरण माना है। पहचान के लिये यह आवश्यक है कि पहचानी गई वस्तु हमारे समक्ष हो। हमें इतना ही स्मरण करना पड़ता है कि इसी प्रकार की वस्तु का अनुभव पहले भी किया है। यहाँ पूरे स्मरण में हमें किसी अनुभूत ज्ञान को चेतना पर लाने के लिये दूसरे संबंधी ज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। पहचान में ऐसा नहीं करना पड़ता।

पहचाना जाने वाला पदार्थ तो प्रत्यक्ष रहता ही है, हमें केवल यह निश्चय करना पड़ता है कि इसका अनुभव पहले भी हुआ है। इसके लिये अनुभूत पदार्थ के साधारण संस्कारों की आवश्यकता होती है। मनुष्य की पहचानने की शक्ति, स्मरण-शक्ति से कहीं अधिक होती है। यदि किसी बालक से किसी विदेश के शहरों के नाम गिनाने को कहा जाय तो वह थोड़ा ही नाम लिख सकेगा किंतु यदि उसे बहुत से नाम लिखकर उनमें से उसके जाने हुए नामों को पहचानने को कहा जाय तो उनकी संख्या कहीं अधिक मिलेगी।

बालक की स्मृति की विशेषताएँ—बालकों की धारणा-शक्ति प्रौढ़-व्यक्तियों की धारणा-शक्ति से अच्छी होती है। जिस प्रकार कच्चे घड़े पर पड़े हुए चिह्न अमिट होते हैं उसी प्रकार बालकों के मन पर पड़े हुए संस्कार अमिट होते हैं। जो बात बचपन में याद की जाती है वह देर तक मन में ठहरती है। बाल्यकाल में जितनी बातें रट कर याद की जा सकती हैं उतनी प्रौढ़ावस्था में नहीं की जा सकतीं। रटी हुई बातें मन के किसी न किसी परत पर पड़ी रहती हैं और वे हमारी प्रौढ़ावस्था में समय पड़ने पर काम आती हैं। विलियम जेम्स महाशय का कथन है कि हम जितनी शीघ्रता से बालपन में नई भाषा सीख

सकते हैं उतनी शीघ्रता से प्रौढ़ावस्था में नहीं। २५ वर्ष की अवस्था के पश्चात् कोई विरला ही व्यक्ति नई भाषा सीखने में समर्थ होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए बालकों को रटने का अधिक काम देना अच्छा है। संख्या, पहाड़े, गुरु, सूत्र, शब्दकोष आदि का बाल्यकाल में याद कराना उनकी मानसिक स्थिति के अनुकूल है।

बालकों में जहाँ प्रौढ़-व्यक्तियों की अपेक्षा धारणा-शक्ति प्रबल होती है, वहाँ उनकी स्मरण-शक्ति कम होती है। बालक तुरंत कही हुई बात को भूल जाता है। बालकों की किसी विषय में रुचि स्थिर नहीं होती। जैसे उनका ध्यान चंचल होता है वैसे ही उनकी बुद्धि भी अस्थिर रहती है। इस कारण वे किसी विषय में देर तक नहीं सोचते। सोचने से ही एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान के साथ संबंध स्थापित होता है जो स्मरण की क्रिया में सहायक होता है। जिस विषय के बारे में हम जितना अधिक सोचते हैं उसके विषय में आवश्यकता पड़ने पर हम उतना ही अधिक स्मरण कर सकते हैं। बालकों के अनुभव उसके मन में एक दूसरे से बिना संबंधित हुए पड़े रहते हैं। प्रौढ़ व्यक्तियों के अनुभव संबंधित हो जाते हैं। यही कारण है कि वे बालकों की अपेक्षा अपने पुराने अनुभवों को अधिक स्मरण कर सकते हैं।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमें बालक से स्मरण के विषय में वह आशा न करनी चाहिए जो हम एक प्रौढ़ व्यक्ति से करते हैं। यदि किसी पाठ के विषय को बालक ठीक-ठीक नहीं दुहरा सकता तो इससे हमें यह निष्कर्ष न निकाल लेना चाहिए कि वह पाठ बिलकुल ही याद नहीं। पाठ के संस्कार उसके मन में हैं। और ये संस्कार उसे नया पाठ याद करने में सहायक होते हैं। कोई नया पाठ याद करने के लिये उसको समझने की आवश्य-

कता होती है। इस समझ का आधार हमारे उसी प्रकार के ज्ञान के पुराने संस्कार होते हैं, चाहे हम क्रमानुसार उन्हें स्मृति-पटल पर ला सकें वा नहीं। मान लीजिए, एक बालक ने अकबर का शासन-प्रबंध पढ़ा किंतु वह उसे स्मरण नहीं कर सकता और एक दूसरे बालक ने अकबर के शासन-प्रबंध को बिल्कुल नहीं पढ़ा। अब यदि ये दोनों बालक औरंगजेब के शासन को याद करना चाहें तो पहला बालक जितनी शीघ्रता से उसे याद कर सकेगा वैसे दूसरा बालक नहीं कर सकता। यदि दोनों बालकों की जन्मजात स्मरण-शक्ति बराबर है तो जिस बालक को किसी विषय का पुराना अनुभव है उसे उसी प्रकार का नया अनुभव सीखने में सुविधा होती है।

बालकों में शब्दों को स्मरण करने की अपेक्षा वस्तुओं को स्मरण करने की शक्ति अधिक होती है। इसका कारण बालकों का पदार्थों के रूप-रंग की आकृति में रुचि है। बालकों की स्थूल पदार्थों में रुचि होती है। शब्द स्वयं एक सूक्ष्म पदार्थ है। जब शब्द किसी वस्तु के नाम अथवा गुण का बोधक होता है तब उसकी सूक्ष्मता और बढ़ जाती है। अतएव जितना ही अधिक बालक को वस्तुओं का ज्ञान कराया जाय उतना ही भला है। किसी भी नए विषय का ज्ञान शाब्दिक ज्ञान न होकर यदि वास्तविक ज्ञान हो, अर्थात् वह स्थूल पदार्थ के द्वारा दिया जाय तो अधिक देर तक ठहरे। प्रौढ़ व्यक्ति यदि अपने ज्ञान के स्मरण के लिये शब्दों की यदि उतनी ही सहायता ले जितना बालक लेता है तो वह न अपने ज्ञान को विकसित कर सके और न अपना व्यावहारिक जीवन सफल बना सके।

बालकों की स्मृति-वृद्धि के उपाय—बालकों की स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिये बहुत से लोग रटाने के उपाय काम में लाते

हैं। कितने ही शिक्षकों की धारणा है कि यदि बालकों को प्रति दिन नियम से किसी विषय का एक अनुच्छेद याद कराया जाय अथवा किसी कविता का एक पद याद कराया जाय तो उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी प्रखर हो जाती है। इस प्रकार की स्मृति की प्रखरता शीघ्रता से विज्ञान के नियमों अथवा व्याकरण के सूत्रों को याद करने में उपयोगी सिद्ध हो सकती है। थारेडनडाइक, गेट्स तथा अन्य आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के प्रयोग इस प्रकार की धारणा को मिथ्या सिद्ध करते हैं। उनके प्रयोगों से यह निश्चित हुआ है कि बालक जिस प्रकार के कार्य का पहले अभ्यास करता है उसी प्रकार का कार्य वह अपनी स्मृति से पीछे भी सरलता से कर सकता है। मान लीजिए कोई बालक प्रति दिन कविता याद करता है तो वह केवल कविता अथवा गद्य को शीघ्रता से याद करने की शक्ति बढ़ाता है। इस प्रकार के अभ्यास से बढ़ी हुई उसकी स्मृति उसे रसायन शास्त्र के नियम याद करने के काम में नहीं आती।

किसी पाठ को याद करने में कुछ दूर तक रटना उपयोगी सिद्ध होता है। भाषा के नए शब्दों को रटकर ही याद किया जाता है। इसी भाँति कविताएँ भी रटकर ही याद की जाती हैं। किंतु रटने में भी विशेष नियमों का पालन करना लाभप्रद होता है। छोटी कविता को टुकड़े-टुकड़े करके याद करने की अपेक्षा पूरी कविता को अनेक बार दुहराने से वह शीघ्र याद हो जाती है। इसी प्रकार लगातार रटते रहने की अपेक्षा बीच-बीच में समय देकर कविता को दुहराने से वह सरलता से याद होती है। यदि कोई कविता याद करने के लिये हम उसे चौंतीस बार दुहरावें तो एक ही दिन न दुहराकर छः दिन तक उसे प्रतिदिन चार-चार बार दुहराने का फल अच्छा होगा। किसी भी पाठ अथवा कविता को याद करते समय उसको लगातार रटने की अपेक्षा बीच-

बीच में आत्म-परीक्षा करते रहना अधिक लाभप्रद होता है।

पाठ याद करने की विधि—प्रत्येक शिक्षक को बालकों को पुस्तक पढ़ने की विधि बतलानी पड़ती है। कितने ही बालक अपना बहुत सा समय पुस्तक पढ़ने में लगाते हैं, किंतु अपने परिश्रम के अनुसार लाभ नहीं उठाते। अधिक पुस्तकों का पढ़ना उनके मस्तिष्क पर व्यर्थ भार हो जाता है। परीक्षा के समय वे यह निश्चय नहीं कर सकते कि किसी प्रश्न का वास्तविक उत्तर क्या है। संकट के समय उनका मस्तिष्क संदेह से भर जाता है। और आत्म-विश्वास टूट जाता है। अतएव बालकों को अधिक पढ़ने की सलाह देना उनके बुद्धि-विकास को रोकता है। बालक को उतना ही पढ़ना चाहिए जितना वह पचा सके।

पढ़े हुए विषय को पचाने के लिये उस पर मनन करना, उसे लिखकर, अथवा दूसरों से कहकर प्रकाशित करना आवश्यक है। जब बालक किसी पुस्तक का एक अनुच्छेद अथवा एक पाठ पढ़ ले तब पुस्तक बंद करके सोचना चाहिए कि उसे याद क्या रहा। इस प्रकार की सलाह देना प्रत्येक बालक के लिये बड़ा आवश्यक है। कितने ही बालक पुस्तक की पुस्तक पढ़ जाते हैं किंतु पुस्तक बंद करके पठित विषय के बारे में आत्म-परीक्षा करने की चेष्टा नहीं करते। इससे उन्हें पढ़ा हुआ विषय न ठीक से याद रहता है और न उनका आत्म-विश्वास ही बढ़ता है। परीक्षा के लिये जाते समय वे यह नहीं जानते कि हम क्या जानते हैं, क्या नहीं जानते। रटने की पुरानी प्रणाली में और चाहे जितने दोष हों, एक गुण अवश्य था, कि विद्यार्थी को अपनी विद्या के विषय में संदेह नहीं रहता था। जब से पुस्तकों की वृद्धि हुई है, मनुष्य को अपनी स्मृति के ऊपर विश्वास नहीं रहा। प्रत्येक शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों में आत्म-

परीक्षा की आदत को बढ़ावे जिससे उन्हें पाठ का वास्तविक लाभ हो और उनका आत्म-विश्वास बढ़े।

पठित पाठ का सारांश लिख लेने से वह और भी ठीक तरह से याद हो जाता है। सारांश लिखते समय विचारों और शब्दों का जो चुनाव करना पड़ता है उसके लिये पठित विषय पर पर्याप्त सोचना पड़ता है अतएव विषय का ज्ञान पक्का हो जाता है।

किंतु, पठित विषय का पूरा ज्ञान तभी होता है जब हम उसे दूसरों को समझाने की चेष्टा किया करते हैं। विद्या दूसरों के समक्ष जितनी ही अधिक प्रकाशित की जाती है उतनी ही वह परिपक्व होती है। अतएव शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों में एक दूसरे के साथ मिलकर काम करने की आदत डालें, पाठ के विभिन्न विषयों पर बहस करें और जो कमजोर हैं उन्हें तीक्ष्ण बुद्धि वाले समझाने की चेष्टा करें। इस तरह पाठ का ज्ञान विशेष पक्का होगा।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

चरित्र

बाल-मनोविज्ञान में चरित्र का स्थान—बालकों के संबंध में चरित्र शब्द का प्रयोग करना मनोवैज्ञानिक विचारशैली के प्रतिकूल समझा जाता है। पर यह बात भी सत्य है कि जीवन की हरएक मौलिक वस्तु की उपलब्धि बाल्यकाल से ही होने लगती है। जिस बात की जड़ हमारे प्रारंभिक जीवन में रहती है वही हमें चिरस्थायी लाभ पहुँचाती है; अतएव माता-पिताओं तथा अभिभावकों का यह परम कर्तव्य है कि वे इस बात को समझें कि बालक किस प्रकार सद्‌गुणों को प्राप्त करता है और किस तरह वह आगे चलकर चरित्रवान व्यक्ति होता है।

हरएक माता-पिता अपनी संतान के सुख का इच्छुक होता है। इस बात को अधिकांश माता-पिता नहीं जानते और अनेक जानकर भी अनजान बनते हैं कि चरित्रवान व्यक्ति ही संसार में सुखी रह सकता है। माता-पिता तो प्राय: अपने जीवन भर संतान के सुख के लिये धन एकत्र करने में लगे रहते हैं और शिक्षक लोग उनमें सांसारिक पदार्थों के ज्ञान कराने में, जिससे कि उन्हें व्यवहार-कुशलता आ जाय। जीवन की वास्तविक मौलिक वस्तु पर कोई ध्यान नहीं देता। चरित्र-वान् व्यक्ति संसार की अनेक सुख-सामग्री से वंचित रहकर

भी सुखी रह सकता है और चरित्रहीन अनेक सामग्रियों के उपस्थित होते हुए भी सदा दुःख से जीवन व्यतीत करता है।

चरित्र का स्वरूप—मनोविज्ञान शास्त्र का सबसे गहन विषय चरित्र है। चरित्र क्या वस्तु है और उसका विकास किस प्रकार होता है इस बात पर अभी तक बड़े-बड़े वैज्ञानिक एकमत नहीं हैं। चरित्र का स्वरूप-निरूपण करने के लिये वैज्ञानिकों को मनुष्य की हर एक मानसिक शक्ति का स्वरूप-निरूपण करना पड़ता है, क्योंकि चरित्र में सब शक्तियों का सामंजस्य है। इन शक्तियों के विषय में वैज्ञानिकों में अभी तक मतैक्य नहीं है, अतएव चरित्र का स्वरूप भी वैज्ञानिक लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं—

(१) आदतों का निर्माण—चरित्र आदतों का समुच्चय कहा जाता है। आदतें मन के वे दृढ़ संस्कार हैं जो प्रवृत्तियों का रूप धारण कर लेते हैं। जब कोई शारीरिक वा मानसिक क्रिया अनेक बार की जाती है तब हमें उसकी आदत पड़ जाती है।

आदतों का निर्माण मूल प्रवृत्तियों के सहारे होता है। अथवा आदतें मूल प्रवृत्तियों का परिवर्तित स्वरूप हैं और चरित्र इन आदतों का समुच्चय है। चरित्र शब्द के अर्थ में मूलप्रवृत्ति तथा उपार्जित प्रवृत्ति दोनों का समावेश होता है। पर अधिकांश वैज्ञानिक चरित्र शब्द के अर्थ में उपार्जित प्रवृत्ति को ही लेते हैं।

(२) विचार का विकास—चरित्र का निर्माण विचार-विकास के साथ-साथ होता है। पशुओं में विचार का विकास नहीं होता। उनके सारे बुद्धि संबंधी कार्य प्रकृति ही करती है। विचार तथा विवेक का होना ही मनुष्य को इन प्राणियों से श्रेष्ठ बनाता है। चरित्रवान् मनुष्य के सब कार्यों में विचार और विवेक की प्रधानता होती है। विचार कल्याण-अकल्याण, शुभ-अशुभ और धर्म-अधर्म का ज्ञान कराता है तथा जीवन का आदर्श भी

वही बनाता है। विचार में ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह मूल प्रवृत्तियों को अपने नियंत्रण में पूरी तरह से रख लेता है।

इस विचार-शक्ति का विकास धीरे-धीरे होता है। बालकों में तथा अशिक्षित पुरुषों में प्रायः मूलप्रवृत्तियाँ ही जीवन को संचालित करती हैं और विचार उनका दास बना रहता है। विचार का काम उनके जीनव में इतना ही होता है कि वह मूलप्रवृत्तियों के लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता दे। मूलप्रवृत्तियों में विचार कोई परिवर्तन नहीं करता, उनका लक्ष्य नहीं बदलता। पर जिस मनुष्य के व्यक्तित्व का पूरा विकास हुआ है, उसकी सब क्रियाओं में विचार का ही प्रधान स्थान होता है। अनेक लक्ष्यों का निर्माण करना तथा उनमें सामंजस्य स्थापित करना, मूलप्रवृत्तियों के पाशविक रूप को बदलकर नया रूप देना तथा उन्हें नियंत्रण में रखना, ये सब कार्य विकसित व्यक्तित्व वाले पुरुष के जीवन में विचार ही करता है। विचार मनुष्य के एक नए स्वभाव का निर्माण कर देता है। मनुष्य की नैतिक आदतें बनाने में विचार का ही प्रधान स्थान है।

जब विचार किसी बात को निश्चित करता है तब पहली बार उसके अनुसार कार्य करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। मनुष्य को आलस्य और मूल प्रवृत्तियों का विरोध करना पड़ता है। अतएव पहली बार मूलप्रवृत्तियों के प्रतिकूल क्रिया करने में बड़ी आध्यात्मिक शक्ति लगती है। पर जब एक ही कार्य बार बार किया जाता है तब एक नई रूढ़ि बन जाती है जो उतनी ही गहरी हो जाती है जितनी कि मूल प्रवृत्ति की रूढ़ि। अतएव इसके अनुसार किए गए कार्य उतने ही सरल हो जाते हैं जितने कि मूलप्रवृत्तियों द्वारा संचालित कार्य। सुंदर चरित्र वाला व्यक्ति वह है जिसके लिये सुंदर और

समाजोपयोगी कार्य करना आनंददायक व्यवसाय है।

जैसे बालक खेल में आनंद का अनुभव करता है उसी तरह चरित्रवान् व्यक्ति अपना कर्तव्य करने में आनंद का अनुभव करता है। कर्तव्य न करने से उसे वैसी ही मानसिक वेदना होती है जैसी भूखे पशु को भोजन न मिलने से, अथवा कामुक व्यक्ति को उसकी वासना के अवरोध से। यह अभ्यास का ही परिणाम है। नए मार्ग से चलना पहले बड़ा ही कठिन और दुःखदाई होता है पर कई बार उस मार्ग से चलने से वही मार्ग सुगम और आनंददायक हो जाता है।

(३) अध्यात्म-शक्ति की वृद्धि—चरित्रवान् व्यक्ति अपनी बुद्धि से अपना कार्य निश्चित करता है और उसकी अध्यात्म-शक्ति[1] भी तदनुसार कार्य करती है।

---

१ यहाँ अध्यात्म-शक्ति का स्वरूप वा उसका कार्य बता देना आवश्यक है। जब कोई दो भावनाएँ हमारे मन में आती हैं, जैसे सिनेमा देखने जाना और अपना पाठ याद करना, तो दोनों में हमारे मन के भीतर द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है। जो भावना इस द्वंद्व में विजयी होती है उसके अनुसार शरीरिक वा मानसिक क्रियाएँ होने लगती हैं। एक भावना का विजयी होकर मन में संकल्प रूप से दृढ़ हो जाना ही निश्चय का स्वरूप है।

अब प्रश्न यह है कि द्वंद्व करने वाली दो भावनाओं में विजयी भावना कौन होती है? इसके उत्तर में कुछ लोगों का मत है कि विजयी भावना वही होती है जो अधिक शक्तिशाली हो। जड़वादी प्रायः इसी सिद्धांत के मानने वाले हैं। पर यह देखा जाता है कि कोई कोई भावना स्वयं दुर्बल होते हुए भी द्वंद्व में सफल हो जाती है! जैसे विद्याभ्यास और सिनेमा देखने की भावना में से पहली भावना दूसरी से निर्बल होते हुए भी द्वंद्व में विजयी हो जाती है। ऐसा क्यों होता है?

द्वंद्व में जीत कराने वाली एक तीसरी ही अज्ञात शक्ति है। इस

चरित्रवान् व्यक्ति का कोई भी निर्णय अध्यात्म-शक्ति के प्रतिकूल नहीं जाता। अनेक प्रकार की आदतें भी इसी की बनाई हुई होती हैं। जब यह अध्यात्म-शक्ति कई बार एक प्रकार का निर्णय कर चुकती है तो उसको उसी प्रकार का नया निर्णय करने में अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। अभ्यास के कारण नया निर्णय करने या उसके अनुकूल कार्य करने में सुगमता होती है। आदत इस अध्यात्म-शक्ति का विकसित रूप है और उसके कार्य का सहारा भी है। अतएव चरित्र इस अध्यात्म-शक्ति के कार्य का ही मूर्तिमान फल है। चरित्रहीन व्यक्ति वह है जिसकी अध्यात्म-शक्ति बिलकुल कमजोर है और जो मूलप्रवृत्ति-जनित भावनाओं के वश में होकर कार्य करता है। व्यक्ति को संवेग अपने प्रवाह में बहा ले जाते हैं; वह एक प्रकार का निश्चय करके उसके विपरीत कार्य करता है।

(४) स्थायी भावों का संगठन—मेकडूगल के अनुसार चरित्र मनुष्य के स्थायी भावों का संगठित रूप है। यह संगठन ढीला वा दृढ़ हो सकता है। उसका आदर्श ऊँचा वा नीचा हो सकता है। पर सुंदर चरित्र का आदर्श सदा ऊँचा ही रहता है।

अज्ञात शक्ति का अस्तित्व जड़वादी नहीं मानते। चेतनवादियों के अनुसार यह अज्ञात शक्ति अध्यात्म शक्ति है। इसी को मनुष्य की कार्य-प्रवेश शक्ति वा आत्मा कहा जा सकता है। यह अंतिम निर्णय करने वाली शक्ति है। यही जिस भावना को जिताना चाहती है उसे जिताना चाहती है जिता देती है और जिसको दबाना चाहती है, दबा देती है। इसके जाग्रत होने पर ही जीवन के आदर्श बनते हैं। जितनी बार यह अपना कार्य करती है, अर्थात् जितनी बार इस अध्यात्मशक्ति के निर्णय के अनुसार हम कार्य में प्रवृत्त होते हैं उतना ही गुना इसका बल बढ़ता जाता है। इसको शक्तिशाली बनाने में ही चरित्र विकास या चरित्रगठन की सफलता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व स्थायी भावों का पुंज है। ये स्थायी भाव संचित कार्यशक्ति के केंद्र हैं। मेकडूगल ने सब प्रकार की प्राप्त प्रवृत्तियों का समावेश मनुष्य के अनेक स्थायी भावों में ही किया है। इनका निर्माण मूलप्रवृत्तियों के आधार पर होता है पर इन केन्द्रों के स्थापित हो जाने के बाद ये ही मनुष्य के सब कार्यों का संचालन करने लगते हैं।

स्थायी भावों में सबसे शक्तिशाली आत्मप्रतिष्ठा का भाव है। सुंदर चरित्र में सब प्रवृत्तियाँ आत्मप्रतिष्ठा के भाव द्वारा ही नियंत्रित रहती हैं, यही उनको संगठित करता है और इसी के मज़बूत होने से चरित्र बलवान् होता है। सुंदर चरित्र हम उसे कहेंगे जिसमें सब स्थायी भाव सुसंगठित हों तथा वे एक महत् स्थायी भाव द्वारा नियंत्रित हों।

इस आत्मप्रतिष्ठा के भाव का विकास धीरे-धीरे होता है, शुरू में यह स्थायी भाव होता ही नहीं। परिस्थितियों के संघर्ष से बालक के मन में इस स्थायी भाव का उदय होता है। समाज-संपर्क भी उसे दृढ़ करने में सहायक होता है। इसी तरह अध्ययन और विचार से भी आत्मप्रतिष्ठा का भाव दिनोंदिन विकसित होता है और हमारे सब कार्यों में प्रधान स्थान रखने लगता है। यह सब मानसिक विकास का प्राकृतिक प्रतिफल है।[1]

बालकों का चरित्रविकास

चरित्र क्या वस्तु है, इस प्रश्न पर अनेक विचार और मत मतांतर हैं। पर यह अवश्य सर्वमान्य सिद्धांत है कि चरित्र

---

१ मेकडूगल का मत हमें ग्राह्य नहीं है। 'आत्मा' को स्थायी भाव के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ मेकडूगल ने नहीं माना। आत्मा की

का एक मुख्य अंग मानसिक दृढ़ता है। चरित्र शब्द में कई एक मानसिक गुणों का समावेश होता है पर उन सबमें प्रधान 'दृढ़ता' है। विचार कर किसी निश्चित किए हुए मार्ग पर चल सकने की शक्ति को चरित्रबल कहते हैं। मनुष्य का मन अनेक प्रकार की इच्छाओं का घर है। ये इच्छाएँ मन को सदा चंचल बनाए रहती हैं, किसी भी धारणा को स्थिर नहीं रहने देतीं। कई इच्छाएँ परस्पर विरोधी होती हैं। जब दो इच्छाओं का बल परस्पर बराबर होता है तो उनमें बड़ा द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है; कभी मनुष्य एक ओर खिंचता है और कभी दूसरी ओर। इस प्रकार मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है और मनुष्य विक्षिप्त सा हो जाता है।

बालक की इच्छाओं की तृप्ति—चरित्र का विकास व्यक्ति की अनेक प्रकार की इच्छाओं में सामंजस्य स्थापित करने में है। जब मनुष्य की अनेक प्रकार की इच्छाओं में सामंजस्य रहता है तो वह अंतर्द्वंद्व से पीड़ित नहीं होता। इस अवस्था में मनुष्य सहजानंद का अनुभव करता है। उसके कार्य स्फूर्तिपूर्ण होते हैं। वह अपनी सारी शक्ति एक ओर लगा सकता है। पर हमारी अनेक प्रकार की परस्पर विरोधी इच्छाओं में सामंजस्य

अनुपस्थिति में आत्मप्रतिष्ठा के भाव का निर्माण कैसे होगा? हरएक भाव चाहे वह स्थायी हो अथवा अस्थायी, सुसंगठित हो अथवा नहीं, आत्मा का ही भाव है। अतएव आत्मा इन भावों के अतिरिक्त पदार्थ है और सब भाव उसपर निर्भर हैं। पर मेकडूगल ने इसका उलटा सिद्धांत स्थिर करने की चेष्टा की है। आत्मा को उन्होंने कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं माना, उसे भावों का कार्य माना है। स्थायी भावों के संगठन से आत्मा का भाव कैसे पैदा हो सकता है अथवा स्थायी भाव अपने आप कैसे संगठित हो सकते हैं—इन प्रश्नों का उत्तर हमें मेकडूगल से नहीं मिलता।

स्थापित करने के लिये आत्मा का बली होना आवश्यक है। बली आत्मा ही विवेक के साथ इच्छाओं की तृप्ति का मार्ग निकालती है तथा मन पर संयम रखती है। इस संयम की शक्ति में ही चरित्रबल है।

इस शक्ति का विकास धीरे-धीरे होता है। बाल्य काल से लेकर प्रौढ़ावस्था तक चरित्र का विकास होता रहता है। हमारा यह विचार कि बालक के जीवन से चरित्र का कोई संबंध नहीं, भूल है। चरित्र के सुदृढ़ भवन की नींव बाल्य काल ही में पड़ती है। बाल्य काल की इच्छाओं, संस्कारों, आदतों और भावनाओं का चरित्रगठन में बड़ा महत्त्व है। माता पिता तथा शिक्षकों को बालकों की सब आदतों का भली भाँति अध्ययन करना चाहिए और उन्हें ऐसा बनाना चाहिए कि वे बालक के जीवन-विकास में सहायक हों।

बालक की इच्छाओं की अवहेलना का दुष्परिणाम—यदि हम बालक की इच्छाओं पर विचार करें तो देखेंगे कि प्रौढ़ावस्था वाले लोगों को बालक की अनेक इच्छाओं का ज्ञान नहीं रहता। हमारी मानसिक स्थिति एक तरह की है और बालकों की दूसरी तरह की। हम प्रायः अपने पैमाने से बालक को नापते हैं। जो बातें हमें बुरी लगती हैं उन्हें हम बालक के लिये भी बुरी समझते हैं। हम अपने नैतिक विचार बालक के मन में बरबस ठूँस देना चाहते हैं। यह हमारी भारी भूल है। इसके कारण कितने ही व्यक्तियों का भावी जीवन क्लेशमय हो जाता है।

कभी-कभी बालक की साधारण इच्छा बलपूर्वक दबा दी जाती है। जो इच्छा बलपूर्वक दबाई जाती है उसकी शक्ति नष्ट नहीं होती। वह अंदर चली जाती है और अव्यक्त मन में रह कर किसी न किसी प्रकार का उत्पात मचाती रहती है। इसके

परिणाम स्वरूप अनेक मानसिक रोग पैदा होते हैं।

हम अपने जीवन में देखते हैं कि किसी-किसी समय हम अपने विवेक के प्रतिकूल कार्य करते हैं। जान पड़ता है कि कोई हमसे उन कार्यों को बरबस करा रहा है। ऐसा क्यों होता है? आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि उसका कारण हमारी कोई बाल्य काल की कुचली हुई वासना है। चित्त-विश्लेषण विज्ञान द्वारा ज्ञात हुआ है कि हमारे मन के सब अंतर्द्वंद्वों का कारण भावना-ग्रंथियाँ हैं जो दमन की हुई इच्छाओं के कारण बन गई हैं। ये मानसिक ग्रंथियाँ हमारे अव्यक्त मन में रह कर हमारे जीवन को अस्थिर बनाए रहती हैं; किसी भी निश्चय पर हमें ठहरने नहीं देतीं। चरित्र के अनेक दोष इन्हीं के कारण होते हैं।

आत्मश्लाघा की भावनाग्रंथि—एक उदाहरण लीजिए। हरएक विवेकी मनुष्य दूसरे की निंदा करना बुरा काम समझता है पर जब समय आता है तो उससे निंदा किए बिना रहा नहीं जाता। हम किसी कारण बरबस एक बुरा काम करने लगते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि इसकी जड़ में कोई दबी भावना है। दूसरे मनुष्य की निंदा सुनने में आनंद का अनुभव करना अथवा दूसरे की निंदा करना एक प्रकार से आत्म-प्रशंसा की इच्छा की तृप्ति करना है। निंदा करना या किसी की निंदा सुनना आत्म-श्लाघा की भावनाग्रंथि का परिणाम है। यह बाल्य काल में बालक की प्रशंसा पाने की इच्छा के दमन करने से पैदा होती है। जो बालक प्रशंसा पाने से वंचित रहता है वह जब बड़ा होता है तो दूसरे के कार्यों में दोष देखता है। इस तरह वह उलटे तरीके से अपने आप को बड़ा मानने में समर्थ होता है। अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे अपने बालकों की समय-समय

पर प्रशंसा करते रहें। उनके कामों की नुक्ताचीनी ही न करें, बल्कि जब मौका मिले तो तारीफ भी करें। ऐसा करने से उपर्युक्त चरित्र दोष उनके जीवन में न आ पाएगा।

निराशावाद का बीजारोपण—बालकों की दबी इच्छाएँ निराशावाद का कारण होती हैं। कितनी ही माताएँ समय के पहले बच्चे का दूध पीना छुड़ा देती हैं। इसका धक्का बालक को बहुत लगता है बच्चे का एक मात्र सहारा माता ही होती है, और जब वह इस प्रकार व्यवहार करती है तो वह सदा के लिये निराशावादी हो जाता है। बचपन की घटना के परिणाम नष्ट नहीं होते, वे सदा बने रहते हैं।

आजकल कुछ धनी लोगों में यह रिवाज चल गया है कि माँ बच्चों को दूध न पिलाए। वे एक दाई रखकर दूध पिलवाते हैं। पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि बालक अपनी माँ का दूध पीकर ही चरित्रवान् हो सकता है। दाई का दूध पीने वाला बालक आलसी या क्रूर होता है। माता के मन के विचार गर्भ की अवस्था में भी बालक के जीवन पर असर डालते हैं; इसी तरह बालक के दूध पीते समय जो भाव माता के हृदय में आते हैं वे बालक के मन में चले जाते हैं। एक दाई के हृदय में कहाँ तक भले विचार उस बालक के प्रति आएँगे जिसे वह विवश होकर पाल रही है, यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

रूसो अपनी एमिली नाम की पुस्तक में लिखता है कि दाई कभी बालक को अच्छी तरह नहीं पाल सकती। जो दाई अच्छी है वह अवश्य ही बुरी माँ होगी, क्योंकि प्रकृति ने उसे सबसे प्रथम अपने बालक से प्रेम करने के लिये बनाया है। जब वह दूसरे बालक को अपना दूध पिलाती है तो वह प्राकृतिक नियम के विरुद्ध चलती है। वह कदापि अच्छी माँ नहीं हो सकती, क्योंकि

अच्छी माँ होती तो दाई की रोजी स्वीकार न करती; फिर जो स्त्री अच्छी माँ नहीं, वह अच्छी दाई कैसे हो सकती है? उसका बालक पर झूठा प्रेम होता है। बालक इस तरह छुटपन से ही झूठा बनना सीखता है। दाई के विचार, जो कदापि बालक के प्रति स्वाभाविक प्रेम से पूरित नहीं हो सकते, बालक के अव्यक्त मन में स्थान पा लेते हैं। अतएव उसका भविष्य में चरित्रवान् व्यक्ति बनना कठिन हो जाता है।

बालक की शिशुकाल की एक प्रबल इच्छा माता की छाती से लग के रहने की होती है। वैसे तो उसे किसी यंत्र से भी दूध पिलाया जा सकता है। उससे बालक के शरीर की पुष्टि चाहे हो जाय पर उसमें उन मानसिक गुणों का विकास कदापि न होगा जो कि स्वाभाविक रूप से माता की गोद में पले हुए और माता का दूध पिए हुए बालक में पाए जाते हैं। यह समझना हमारी भारी भूल है कि बालक का चरित्र उत्तम प्रकार की नैतिक शिक्षा से ही बनता है। यदि हम मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो मालूम होगा कि हरएक व्यक्ति के चरित्र का गठन शिशुकाल से ही होने लगता है। कृष्ण भगवान् का कथन है कि पुण्यात्मा किसी योगी के घर जन्म लेता है और इससे वह अपने पुराने जन्म के संकल्प के अनुसार सुगमता पूर्वक कार्य करता है। यह कथन मनोवैज्ञानिक सत्य से पूर्ण है।

तेज और स्फूर्ति का अभाव—हम देखते हैं कि कितने ही बालकों की खाने और खेलने की इच्छा को जबरदस्ती दबा दिया जाता है। पर इसका घोर दुष्परिणाम होता है। जो बालक बचपन में खेल नहीं पाता उसका जीवन स्फूर्तिहीन हो जाता है और जिसकी खाने की इच्छा तृप्त नहीं हो पाती वह लोभी होता है। इस समय देश के सामने महात्मा गाँधी की शिक्षा-योजना

है। बालकों की भलाई सोचने वालों को इस बात पर विचार करना चाहिए कि सात वर्ष के बालक से ढाई घंटे लगातार चर्खा कताकर वे उसे कैसा नागरिक बनाएँगे और उसका भावी जीवन कहाँ तक सुखी हो सकेगा।

अभिभावकों को यह जान लेना आवश्यक है कि बालकों की हर प्रकार की इच्छाओं का उनके जीवन में महत्त्व है। एक मनोविज्ञानवेत्ता लिखता है—"बालक को उसकी इच्छाओं की पूर्ति करके बिगाड़ना असंभव है, पर उनको कुचलकर उसके व्यक्तित्व को आघात पहुँचाना सहज है।"[1] बाल्य काल की वासनाएँ तृप्त हो जाने पर व्यक्ति को विकास की ओर ले जाती हैं; अन्यथा वे उसे उसी जगह रोके रहती हैं और व्यक्ति का जीवन अनेक प्रकार से दुःखमय कर देती हैं।

हम जिस प्रकार नीचे की सीढ़ी पर पैर रखकर ही मकान की छत पर जा सकते हैं उसी प्रकार विकसित जीवन बालक की सब प्रकार की वृद्धि का फल है। यदि बाल्य काल में कृष्ण दही की चोरी न करते और अनेक प्रकार की लीलाएँ न रचते तो अर्जुन के सारथी बनकर महाभारत संग्राम में अपने मित्र को शायद ही विजयी बनाने में समर्थ होते। समय के पहले किसी व्यक्ति के जीवन में नैतिकता अथवा शिष्टाचार का आना एक मानसिक बीमारी है।

शुभ संस्कारों का डालना—चरित्रविकास में शुभ संस्कारों का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। ये संस्कार अनेक प्रकार से बालक के मन पर डाले जा सकते हैं। बालक का वातावरण शुद्ध होना चाहिए। उसको ऐसे दृश्य दिखाने चाहिएँ जिनसे उसके मन पर अच्छा असर पड़े। छोटे बालकों को उपदेशपूर्ण कहानियाँ

---

१ लार्ड लिटन-'न्यू ट्रेज़र'

सुनानी चाहिएँ। इसका परिणाम यह होता है कि बालक की रुचि भले काम करने की हो जाती है। फिर उसके जीवन में अच्छी आदतें डालना तथा उसमें मानसिक दृढ़ता लाना सरल हो जाता है।

कहानियाँ—कहानियाँ, बालक के चरित्र-विकास में बहुत उपयोगी होती हैं। इस बात को पंचतंत्र के लेखक विष्णु शर्मा ने भली प्रकार समझाया है। उन्होंने बालकों के लिये अनेक नीति से भरी हुई कहानियों का निर्माण किया है। इन कहानियों का उद्देश्य बताते हुए पंचतंत्रकार ने लिखा है—

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥[१]

वीर पुरुषों की कथाएँ—जिस तरह छोटे बालकों के लिये पंचतंत्र उपयोगी है उसी तरह किशोरावस्था वाले बालकों के लिये संसार के वीर पुरुषों और महात्माओं की कथाएँ उपयोगी हैं। उन्हें राजा हरिश्चंद्र, भीष्म, अशोक, हर्ष, शिवाजी, गुरु गोविंद-सिंह इत्यादि हमारे देशरत्नों की और ईसा, सुकरात, संत फ्रेंसिस, लूथर, मेजिनी, टालसटाय ऐसे विदेशी वीरों की जीवन-गाथाएँ सुनानी चाहिएँ। इस समय में जो भावनाएँ बालक के हृदय में उठती हैं वे उसके अव्यक्त मन में वास कर लेती हैं और उसका जीवन-प्रवाह किसी एक दिशा में बहाने में सहायक होती हैं।

सिनेमा—आधुनिक काल में सिनेमा का बड़ा प्रचार हुआ है। इनके ऊपर नैतिक नियंत्रण नहीं है। क्रांतिकारी और राज-

---

@ प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक नाम की पुस्तक में भली प्रकार से कहानियों का चरित्र-गठन में उपयोग बताया है। उनका कहना है कि कहानियों के ऊपर राज्य का नियंत्रण रहना चाहिए और दाइयों को सुंदर कहानियाँ सिखाई जानी चाहिएँ।

विद्रोही दृश्यों को छोड़कर कंपनियों को सब प्रकार के दृश्य दिखाने की स्वतंत्रता है। अतएव नीचवर्ग के लोगों से रुपया खींचने के लिये उनकी रुचि के अनुसार दृश्य दिखाए जाते हैं। इससे हरएक व्यक्ति का नैतिक पतन होता है। किशोरावस्था के बालकों के जीवन पर इसका कितना बुरा प्रभाव पड़ता है इसका तो अंदाज लगाना कठिन है। अधिक दृश्य कामवासना को उत्तेजित करते हैं और चोरी, दगाबाजी आदि सिखाते हैं।

कुछ वर्ष पहले एक जज का फैसला स्कूल के हेडमास्टरों के पास भेजा गया था। एक लड़का साइकिल की चोरी में पकड़ा गया। उसकी पिछली जीवनी से पता चला कि पहले उसने कई साइकिलें चुराई थीं। जब लड़के से पूछा गया कि उसने यह कार्य कैसे सीखा तो मालूम हुआ कि एक फिल्म के देखने से उनके मन में साइकिल चुराने में निपुण होने की इच्छा प्रबल हो हो गई और उसी फिल्म द्वारा उसने चोरी करना सीखा। सिनेमा, जो कि शिक्षा का सबसे अच्छा साधन हो सकता है, बालकों के तथा राष्ट्र के नैतिक पतन का एक बड़ा कारण बन गया है। इससे बालकों को रोकना बड़ा कठिन है, क्योंकि माता पिता भी इसके दुष्परिणाम पर विचार न कर बालकों को वहाँ जाने की सुविधाएँ देते हैं। कई एक अभिभावकों को इनके देखने की लत पड़ गई है, फिर वे दूसरों को कैसे रोकें? इतना ही नहीं, वे बालकों को सिनेमा देखने के लिये प्रोत्साहन देते हैं।

बालकों का सिनेमाघर अलग होना चाहिए। यदि राज्य नियम बना दे कि अमुक वर्ष से नीचे का बालक साधारण सिनेमाघर में न जाय, अर्थात् उसको सिनेमा का टिकट न दिया जाय, तो बालकों का बड़ा कल्याण हो। सब स्कूल मिलकर गाँव में एक सिनेमाघर बनाएँ और उसमें अच्छे-अच्छे दृश्य बालकों को दिखाए जायँ।

शुभ आदतों का निर्माण—ऊपर हमने चरित्र-गठन के लिये दो बातों की आवश्यकता बताई है—बालक की इच्छाओं की तृप्ति और शुभ संस्कारों का डाला जाना। ये दोनों बातें बालकों के जीवन में सुंदर आदतें डालने में सहायक होती हैं इस समय हमें उनमें सुंदर आदतें डालने का प्रयत्न करना चाहिए। ये आदतें उनके चरित्रविकास में सहायक होती हैं इन आदतों के डालने में बालक को ताड़ना देना उचित नहीं। अत्यधिक शासन के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। बालकों की अनुकरण की प्रवृत्ति से यहाँ काम लेना चाहिए। बालक बड़ों की नकल चाव के साथ करता है। अतएव बड़े लोगों को चाहिए कि उसके सामने वही बातें करें जिनकी वे उसमें आदतें डालना चाहते हैं, ऐसे, काम कदापि न करें जिनकी आदतें नहीं डालना चाहते। जो माता पिता चाहते हैं कि उनके बालक सत्यवादी बनें उन्हें स्वयं सदा सत्य बोलना चाहिए। बालक को झूठ बोलने का उदाहरण न मिलने पाए। समय पर काम करना, सबेरे उठना, सफाई रखना, दूसरे की मदद करना—ये सब आदतें बालकों में उनकी अनुकरण की की प्रवृत्ति के सहारे डाली जा सकती हैं। एक ब्राह्मण का बालक जाड़े के दिनों में स्नान करने में कभी नहीं हिचकिचाता, यह बात दूसरे घरों के बालकों में नहीं पाई जाती। इसका कारण उसके घर का वातावरण है; वह इसमें बड़ों की नकल करने की कोशिश करता है।

बहुत से पिता स्वयं तो सिगरेट पीते हैं और बालकों को सिगरेट पीने से रोकना चाहते हैं। वे उन्हें सिगरेट पीने के लिये दंड भी देते हैं। उनकी यह चेष्टा कितने अविचार से भरी है, पाठक सहज में समझ सकते हैं। वे प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल

बालक को चलाना चाहते हैं। इसका यही परिणाम होता है कि बालक के मन में पिता के प्रति भय तथा द्वेष की भावना पैदा हो जाती है और प्रकाशित होने का मौका न मिलने के कारण वह एक भावना-ग्रंथि का रूप धारण कर बालक के अव्यक्त मन में अपना निवास कर लेती है। इससे बालक का भविष्य जीवन दुखी हो जाता है। उसका स्वभाव निरुत्साहपूर्ण अथवा चिड़चिड़ा या दूसरों को ताड़ना देने वाला बन जाता है। घर के वातावरण का प्रभाव चरित्र पर बहुत पड़ता है इस बात को अभिभावकों को कदापि न भूलना चाहिए।

अभिभावकों को चाहिए कि बालक में भली आदतें डालने के लिये व्यक्तित्व-विकास के प्राकृतिक नियमों का पालन करें, उनकी स्वभाविक प्रवृत्तियों से काम लें, सदा भय और दंड से काम न लें। जब बालक कोई अच्छा काम करे तो उसकी प्रशंसा करें जिससे उसकी उस प्रकार के कार्य करने की आदत दृढ़ हो जाय। यूरप के कुछ मांटिसोरी स्कूलों में अध्यापिका छोटे बालक और बालिकाओं का स्वागत करने के लिये दरवाजे पर खड़ी रहती है। जब कोई बालक समय के पहले आता है तो वह उसकी तारीफ करके उसका स्वागत करती है। इसी तरह जो समय पर आता हैं उसकी भी तारीफ करती हैं। जो समय पर नहीं आ पाता है उसे उस दिन समय पर न पहुँचने की याद दिला देती हैं। अध्यापिका की प्रशंसा पाने के लिए सब बालक समय पर आने की कोशिश करते हैं। इसी तरह उनमें समय की पाबंदी की आदत पड़ जाती है जो जीवन भर उनका साथ देती है।

ज्ञानवृद्धि और विचारविकास—जैसे शिशुकाल में कथा कहानियों तथा व्यवहार की आदतें डालने पर चरित्र-विकास निर्भर रहता है उसी प्रकार बालक के बड़े होने पर

वह ज्ञानवृद्धि पर निर्भर होता है। जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षा-वैज्ञानिक हरबार्ट का कहना है—"मूर्ख पुरुष का सदाचारी होना असंभव है।" सुकरात ने कहा है कि "ज्ञान का ही दूसरा रूप सदाचार है।" ज्ञान दो प्रकार का होता है एक तो सांसारिक और दूसरा आध्यात्मिक। दोनों प्रकार का ज्ञान बालक के चरित्रविकास में सहायक होता है। बालक की अभिरुचि अनेक प्रकार के पदार्थों में बढ़ानी चाहिए। जिस व्यक्ति की अभिरुचि थोड़े ही पदार्थों तक सीमित है वह उन पदार्थों की अनुपस्थिति में पाशविक वासनाओं की तृप्ति में लग जाता है। उसका मन आलस्य अथवा इंद्रियों के भोग ढूंढ़ने में लगा रहता है। इसी लिये कहा गया है कि खाली मन शैतान की कार्यशाला है। योगवाशिष्ठ में वशिष्ठजी ने रामचंद्र जी को सफल जीवन बनाने का उपदेश देते हुए कहा है कि मनुष्य की अशुभ वासनाओं को दूर करने के लिये शुभ वासनाओं को दृढ़ करना चाहिए। पर जब तक व्यक्ति को संसार का अनेक प्रकार का ज्ञान न हो, तब तक उसके मन में तद्विषयक वस्तुओं के प्रति न रुचि होगी न कोई वासना ही उत्पन्न होगी। जब भली वस्तुएँ प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य में नहीं रहती तो दूसरे प्रकार की इच्छाएँ उसके मन में अपना निवास-स्थान बना लेती हैं। अतएव चरित्र-विकास के लिये अनेक प्रकार का संसारिक ज्ञान अत्यावश्यक है। बालक अपने देश, जाति और समाज का ज्ञान कराना चाहिए। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, कला इत्यादि विद्याएँ पढ़ाना चाहिए जिससे उसका मन काम में लगा रहे और शुभ भावनाएँ उसके हृदय में स्थान पाएँ।

हरबार्ट के अनुसार मनुष्य का चरित्र उसके निर्णय पर निर्भर है। मनुष्य भला अथवा बुरा काम करने के पहले निर्णय करता

है। इस निर्णय में उसकी इच्छाशक्ति स्वतंत्र है; पर जिस व्यक्ति के मन में मूर्ख होने के कारण अनेक प्रकार की भावनाएँ ही नहीं आतीं, वह जो भावना उसके मन में है उसी के अनुसार निर्णय करेगा, और यह भावना शुभ न हुई तो उसका निर्णय भी शुभ न होगा। इस कारण उसका चरित्र भी पतित अवस्था में रहेगा। अतएव चरित्र-विकास के लिये ज्ञानवृद्धि अत्यावश्यक है। शिक्षा का उद्देश चरित्र बनाना है और उसका परम साधन ज्ञानवृद्धि है।

अध्यात्मशक्ति की वृद्धि—जब बालक का मन उपर्युक्त सब प्रकार से तैयार होता है तब आध्यात्मिक शक्ति को चरित्र-गठन के कार्य करने में सब प्रकार की सहायता मिलती है। चरित्र न तो बचपन की भली आदतें ही हैं और न विस्तृत ज्ञान। चरित्र आध्यात्मिक शक्ति की प्रबलता है। परिस्थितियों की बनाई आदतों का दास व्यक्ति कभी-कभी जड़ पदार्थ या पशु के समान अपना व्यवहार बना लेता है। इसी तरह सब प्रकार का ज्ञान होते हुए भी कोई-कोई मनुष्य अपने आपको बुरे कर्मों से नहीं रोक सकते। उनकी आत्मा इतनी बलवान् ही नहीं होती कि किसी प्रकार के मनोवेग का सामना कर सके या किसी प्रलोभन से अपने आपको रोक सके। अतएव दृढ़ चरित्र बनाना एक ऐसा कार्य है जिसमें बचपन की आदतें तथा ज्ञान सहायक हो सकते हैं, पर आत्मा के बलवान् हुए बिना यह कार्य नहीं होता।

आत्मा अभ्यास से बलवान् होती है। हमारा मन वायु के समान वेग वाला है पर अभ्यास के बल से वह वश में आ जाता है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

किसी संवेग को पहली बार रोकने में मनुष्य को बड़ी कठिनाई पड़ती है। पर अपने आदर्श पर यदि दृढ़ता से ध्यान रखा जाय तो वह रुक जाता है। दूसरी बार उस संवेग का बल घट जाता है। इसी प्रकार किसी भी संवेग को बार-बार रोकने से अध्यात्म-शक्ति प्रबल हो जाती है और फिर कोई भी कठिन कार्य करना सरल हो जाता है।

बीसवाँ परिच्छेद

अंतर्द्वंद्व

पिछले परिच्छेद में बताया गया है कि बालक के चरित्र का विकास दबी हुई भावनाओं के कारण रुक जाता है। वे मन में अंतर्द्वंद्व पैदा कर देती हैं जिसके कारण सब प्रकार से बालक की उन्नति में बाधा पड़ती है। आधुनिक काल में इस अंतर्द्वंद्व का विशेष अध्ययन किया गया है।

अव्यक्त मन—मनुष्य की ऐसी अनेक मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ हैं जिन्हें हम कुछ समय पहले कारणरहित समझते थे या जिनके कारण के विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते थे। आज वे क्रियाएँ सरलता से समझाई जा सकती हैं। मनुष्य के जीवन में कोई ऐसी क्रिया नहीं है जो अकारण हो। कारण न खोज सकना केवल हमारी अज्ञानता का सूचक है। वर्तमानकाल में चित्त-विश्लेषण शास्त्र द्वारा हम अनेक प्रकार की मनुष्य की शारीरिक चेष्टाओं तथा मानसिक क्रियाओं का वास्तविक अर्थ जान गए हैं। थोड़े ही समय पहिले तक मनोविज्ञान का अध्ययन मनुष्य की व्यक्त भावनाओं तथा विचारधाराओं तक सीमित था। हमारी अव्यक्त भावनाएँ और अव्यक्त स्मृति के बारे में मनोविज्ञान शास्त्र कुछ भी नहीं कह सकता था। डाक्टर फ्रायड और उनके अनुयायी युंग, एडलर, जोंस, फ्रेंकजी

आदि के प्रयास से मनुष्य के मन के बारे में हमारा ज्ञान इतना बढ़ गया है कि आज हम यह कह सकते हैं कि हमारा व्यक्त मन अव्यक्त मन का एक क्षुद्र भाग है।

फ्रायड महाशय मन की तुलना एक समुद्र में उतराते हुए बर्फ के पहाड़ (आइसबर्ग) से करते हैं। जिस तरह हम आइस-बर्ग के अष्टमांश को ही देख सकते हैं क्योंकि इतना ही हिस्सा पानी के ऊपर रहता है, उसी तरह हम अपने मन के आठवें हिस्से को ही जान पाते हैं। मन का एक बड़ा भारी भाग व्यक्त मन की पहुँच के सदा बाहर रहता है। एक दूसरी जगह फ्रायड महाशय ने हमारे मन की तुलना नाट्यशाला से की है। जिस तरह पर्दे के सामने जो खेल हुआ करते हैं वे वास्तव में अपने आप ही नहीं होते वरन् उनका कारण छिपा हुआ रहता है, और जिस तरह एक बार मंच पर आने वाले व्यक्ति समस्त पात्रों के केवल थोड़े से अंश रहते हैं उसी तरह हमारे व्यक्त मन की घटनाओं के कारण अव्यक्त में स्थित रहते हैं और जो अनेक प्रकार की व्यक्त भावनाएँ हम जानते हैं वे हमारी समस्त भाव-नाओं का एक छोटा सा अंश हैं।

यही अव्यक्त मन हमारे समस्त कार्यों का उद्गम स्थान है। यहीं से उस शक्ति का संचार होता है जिसके बल से अनेक प्रकार की विचारधाराएं हमारे व्यक्त मन में चला करती हैं। अव्यक्त मन में वे दबी हुई भावनाएँ, आशाएँ और विस्मृत अनुभूतियाँ रहती हैं जिन्हें हम मन से लुप्त हुई मान लेते हैं। इसी अव्यक्त मन में स्वप्नों, भूलों और समय समय पर होने वाली बेचैनी के कारण रहते हैं। अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ जैसे सोने की अवस्था में चलना और बकना, व्यक्तित्व-विच्छेद, उदासी-नता, हिस्टीरिया इत्यादि का कारण भी हम यहीं पाते हैं। अव्यक्त

मन की अनेक वासनाएँ ही कई प्रकार की भूलें चतुर मनुष्यों से कराती हैं और इन्हीं के कारण योग्य कुल में पैदा हुए व्यक्ति अपशब्द, गालियों, इत्यादि का प्रयोग करते हैं। ये ही भावनाएँ अनेक प्रकार की सांकेतिक चेष्टाएँ बनकर उद्‌भूत होती हैं।

व्यक्त अव्यक्त का संघर्ष—सच तो यह है कि मनुष्यों के आकार प्रकार में जो कुछ भी भिन्नता पाई जाती है वह उनके व्यक्ताव्यक्त के संघर्ष का प्रतिफल है। यही नहीं, स्वभाव का अच्छा बुरा होना, कुरूप तथा रूपवान होना आदि सब व्यक्त और अव्यक्त के संघर्ष की ही झलक है। इसीसे कहा भी है कि 'मुख हृदय का दर्पण है'। संसार में जितने प्रतिभाशाली पुरुष हैं उनकी प्रतिभा व्यक्त के द्वारा दबी हुई अव्यक्त की अनुभूति मात्र है। कवियों का कवित्व व्यक्त के द्वारा दबी हुई कामवासनाओं का सुविकास मात्र है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास से लेकर अब तक के सब कवियों का जीवन देखने से भी उक्त विषय की पुष्टि होती है। तात्पर्य यह कि संघर्ष का ही दूसरा नाम संसार है। मनुष्य के सांसारिक सुख का हनन वासनाओं के ही घात प्रतिघातों से होता है, अर्थात् अव्यक्त की उद्भूत वासनाएँ व्यक्त से दबकर रोगादि का कारण होती हैं।

सारी जागृत वा सुप्त वासनाएँ कारण-शरीर में बीज रूप से निहित रहती हैं यह पहले ही कहा जा चुका है। कोई भी अव्यक्त वासना व्यक्त होकर ही परितृप्ति पा सकती है। अतः प्रत्येक वासना को परितृप्ति पाने के लिये एक नियत निर्धारित मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है, और उस मार्ग का निर्धारण अहंकार के अधीन है। अहंकार को विवेक-बुद्धि के अधीन रहना पड़ता है।

शुभ-अशुभ वा यश-अपयश का खयाल अहंकार को ही रहता है। द्वंद्व का फल ही अहंकार है। इसी के द्वारा जीव द्वैत का अनु-

भव करता रहता है। अच्छे कार्यों में यही नाम की अभिलाषा रखता है तथा बुरे कामों में यही बदनामी से डरता है। अतः यह अहंकार अपने अनुकूल वातावरण के अनुसार अव्यक्त की वासनाओं को परितृप्त वा नियंत्रित करता रहता है। यह सरकारी सी० आई० डी० विभाग की तरह है। जैसे सी० आई० डी० विभाग सरकार द्वारा संचालित होता है वैसे ही अहंकार भी विवेक के द्वारा संचालित होता है। देश-काल-परिस्थिति के प्रतिकूल वासनाएँ कुचल दी जाती हैं और अनुकूल वासनाएँ परितृप्ति पाती रहती हैं।

यह भौतिक शास्त्र का सिद्धांत है कि शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। अतः जब वासनाएँ परितृप्ति पा जाती हैं तो उनकी शक्ति भी शांत हो जाती है। परंतु जब जब वासनाएँ रोकी जाती हैं तब उनकी शक्ति रूपांतर से व्यक्त होने की चेष्टा करती रहती है और रुकावट तथा शक्ति के अनुपात से मस्तिष्क में रेंगती हुई नाना प्रकार के विकारों में उद्भूत होती है। ये वासनाएँ ठीक उन्हीं मनुष्यों की भाँति होती हैं जो सरकार द्वारा क्रांतिकारी समझकर नियंत्रित कर लिए जाते हैं। जैसे इन क्रांतिकारियों द्वारा सरकार अव्यवस्थित और अनियमित रहती है और उसे उलटने का भय बना रहता है, ठीक उसी प्रकार शरीर को इन अनियंत्रित भावनाओं का भय रहता है। अतः दूरदर्शी सरकार नियंत्रण का कार्य बहुत कम करती है। वह अपने विपक्ष को विरोध का पर्याप्त अवकाश देती रहती है। इससे उनकी शक्ति समाज-सुधार आदि में व्यवहृत होती रहती है और क्रांति का अवकाश कम मिलता है। पर अदूरदर्शी सरकार सर्वतः दमन में प्रवृत्त रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रजा में सदा हाहाकार मचा रहता है, और उस सरकार का जीवन भी संकट-मय रहता है; कभी न

कभी वह क्रांतिकारियों का शिकार बनकर अपना अस्तित्व खो ही बैठती है। ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक बुद्धि भी कार्य करती है। जो व्यक्ति देश-काल-परिस्थिति को देखते हुए वासनाओं को परितृप्त कर लेते हैं वे सुखी कहलाते हैं; परंतु जो लोग निर्दयता पूर्वक अपनी उपस्थित वासनाओं के कुचलने में लगे रहते हैं उनकी नैतिक बुद्धि अपनी आत्मा के लिये तथा समाज के लिये अशांति का कारण हो जाती है। वासनाओं का संकर उत्पन्न हो जाता है और जब वासना की संकरता बढ़ जाती है तो व्यक्ति-विच्छेद आरंभ हो जाता है। फिर व्यक्ति-सांकर्य, विभिन्न व्यक्तित्व और पागलपन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। साधारणतः स्वप्न, मजाक, गालियां अश्लील व्यवहार तथा अनेक प्रकार की विचित्र चेष्टाओं और मानसिक तथा शारीरिक रोगों की अभिव्यक्ति इन्हीं रुद्ध भावनाओं से होती है। उन्माद, मृगी, लकवा, कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोग और शूल आदि रोग भी दबी हुई वासनाओं के प्रतिबिंब स्वरूप हैं। दबी हुई अव्यक्त वासनाओं की निवृत्ति का सब से सुलभ साधन स्वप्न है।

स्वप्न—अव्यक्त की सूक्ष्म गति जानने के लिये हमें स्वप्न को भली भाँति समझना चाहिए। स्वप्न का अनुभव करीब करीब सभी को रहता है। मानसिक विश्लेषण द्वारा जब स्वप्नों का विश्लेषण किया गया तो विदित हुआ कि स्वप्न व्यक्त से दबी हुई अव्यक्त वासनाओं की रूपांतरित अभिव्यक्ति है। दबी हुई वासनाएँ जागृत अवस्था में देश-काल-परिस्थिति के कारण व्यक्त नहीं हो सकतीं। अतः ये वासनाएँ परिवर्तित, संक्षिप्त, संमिश्रित और प्रतिभावित होकर स्वप्नावस्था में प्रकट होती रहती हैं। स्वप्न तो केवल रूपांतर होता है। वास्तविक इच्छा का जानना अत्यंत कठिन होता है; क्योंकि व्यक्त लक्षण अव्यक्त वासनाओं से कभी

कभी बिलकुल भिन्न होते हैं और प्रायः जितने स्वप्न हम देखते हैं उतने स्मरण भी नहीं रह पाते, क्योंकि अव्यक्त उन्हें व्यक्त से बराबर छिपाना चाहता है।

मि० मायर ने एक स्वप्न का वर्णन इस प्रकार किया है कि "एक नवयुवती को स्वप्न हुआ कि वह सुनहरे जूते पहने हुए है" इस स्वप्न का जब विश्लेषण किया गया तो विदित हुआ कि वह किसी गहरी आंतरिक अभिलाषा का सूचक है। युवती अपने दांपत्य जीवन से सुखी न थी। वह अपनी सहचरी के दांपत्य पर ईर्ष्या करती थी, कारण कि अपनी सहचरी के पति को पहले उसने अस्वीकार कर तिरस्कृत किया था। अब एक दिन जब वह उसके घर मेहमान बन कर गई तो देखा कि उसकी सहचरी सुनहरे जूते पहने है। उसे पूर्व स्मृति हो आई और वह सोचने लगी कि यदि मेरा व्याह इसी व्यक्ति से होता तो मैं भी आज सुनहरे जूते पहनती होती। इस प्रकार आंतरिक अभिलाषा की पूर्ति स्वप्न में हो गई। परंतु सदा स्वप्न इसी प्रकार के नहीं होते।

मिस्टर मायर ने एक दूसरे स्वप्न का उदाहरण दिया है जो पहले से बिलकुल भिन्न है और जिसमें छिपी भावना व्यक्त स्वप्न से बिलकुल ही भिन्न है। अर्थात् "एक व्यक्ति ने स्वप्न में अपने चचा को मरते देखा जिसकी मृत्यु बहुत पहले हो चुकी थी"। यह स्वप्न उसे अनेक बार हो जाया करता था। विश्लेषण करने पर विदित हुआ कि स्वप्न उसे उसी समय में होता है जब वह आर्थिक कष्ट से व्यथित रहता है, क्योंकि चचा की मृत्यु ने उसे आर्थिक कष्ट से सामयिक मुक्ति दी थी। अब जब वह आर्थिक संकट में होता था तो अपने पिता की मृत्यु की बात सोचता रहता था। पिता की उसके साथ अनबन थी और वह पिता से

पृथक् रहता था। यह वासना अव्यक्त में होने के कारण आर्थिक संकट के अवसर पर चचा की मृत्यु के रूप में आ जाया करती थी। यहाँ पिता का स्थान चचा से परिवर्तित कर लिया गया, क्योंकि अव्यक्त में पिता के मरने की इच्छा होते हुए भी व्यक्त में यह अनुचित था। सामाजिक तथा नैतिक सिद्धांत के विरुद्ध होने के कारण नैतिकता-प्रेरित व्यक्त मन ने इस भावना को दबाया और वह चचा की मृत्यु के रूप में स्वप्न में उद्भूत हो गई। यह स्वप्न का परिवर्तित रूप है।

मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ—जैसे अव्यक्त की दबी हुई वासनाएँ उक्त प्रकार से स्वप्न में उद्‌भूत होकर चरितार्थ हुई, उसी प्रकार दबाव की न्यूनाधिकता के कारण दुग्ध वासनाएँ नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न कर देती हैं। जैसे मानसिक विश्लेषण से स्वप्न जाने जाते हैं वैसे ही मानसिक विश्लेषण से रोगों का भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है और बहुत से रोगी रोगमुक्त भी किए जाते हैं। डा० फ्रायड तथा अन्य मानसोपचार शास्त्रियों ने, मधुमेह, चर्मरोग, कुष्ट, बदहजमी, शूल, लकवा, मृगी और उन्माद आदि के रोगियों को इस चिकित्सा द्वारा अच्छा किया है।

दबी भावनाओं की खोज—चित्त-विश्लेषक कई उपायों का प्रयोग दबी भावना के खोज के लिये करते हैं। जैसे—स्वप्न-विश्लेषण, सांकेतिक शारीरिक चेष्टाओं और पुरानी घटनाओं का अध्ययन, हिप्नाटिज्म (संमोहन) तथा शब्द-संबंध। शब्द संबंधी प्रयोग की प्रक्रिया इस प्रकार है—

परीक्षार्थी को एक शब्द दे दिया जाता है, और उससे कहा जाता है कि इस शब्द के स्मरण आते ही तुम्हें दूसरा जो भी शब्द स्मरण आए, तुरंत कहो। साथ ही पास में स्थित घड़ी से

समय मालूम कर लिया जाता है। साधारणतया शब्द से संबंध रखने वाले शब्द ही तुरंत याद आते हैं। परंतु असाधारण अवस्था में शब्द से संबंध रखनेवाले शब्दों को याद करने में देर होती है और शब्द के सामान्य संबंधी शब्द उपस्थित न होकर दूसरे प्रकार के शब्द उपस्थित होते हैं। इस प्रकार के कुछ संकेत मिलने पर जब परीक्षार्थी के चित्त का विश्लेषण किया गया तो विदित हुआ कि कोई न कोई अव्यक्त मन में स्थित भावना-ग्रंथि सामान्य शब्दों के व्यक्त होने में बाधा डालती है। कभी कभी यह बाधा इसलिये डाली जाती है कि उसकी उपस्थिति का पता ही न चले। जैसे कि व्यक्ति जब चोरी करता है और उससे कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं तो चोरी संबंधी विषय में वह कुछ भी व्यक्त नहीं होने देना चाहता। पर तो भी उसके जवाब देने में अकसर देर होती है। इसी प्रकार अव्यक्त मन भी भावना-ग्रंथि-विषयक शब्द को निकालना नहीं चाहता और जब दूसरा शब्द ढूँढता है तो उसमें स्वभावतः देर हो जाती है[1]।

---

१ युंग और पिटर्सन के लिए हुए निम्नलिखित शब्द संबंध की क्रिया के उदाहरणों से उक्त विषय स्पष्ट हो जायगा। यहाँ पर 'उत्तेजक शब्द' उसका उत्तर और उत्तर देने का समय दिया हुआ है। उत्तर देते समय परीक्षार्थी को सोचने नहीं दिया जाता, सहसा जो कुछ मन में आए कह देना पड़ता है।

सं०	उत्तेजक शब्द	उत्तर का शब्द	समय सेकंड में
१	शिर	बाल	१–४
२	हरा	मैदान	१–६
३	पानी	गहरा	५
४	छुरी	चाकू	१–६

सं०	उत्तेजक शब्द	उत्तर का शब्द	समय सेकंड में
५	लंबा	रेखुल	१—२
६	फिसलना	डूब जाना	३—४
७	पूछना	उत्तर देना	१—६
८	ऊन	बुनना	१—६
९	घृणित	प्रिय	१—४
१०	झील	पानी	४
११	बीमार	स्वस्थ	१—८
१२	स्याही	काली	१—२
१३	तैरना	तैर सकना	३—८

हम देखते हैं कि उत्तेजक शब्द ३, ६, १०, १३ के उत्तर में समय अधिक लगा है और तेरहवें शब्द की उत्तेजना पर एक विचित्र उत्तर मिला। इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति के अंदर एक ऐसी भावनाग्रंथि है जिसका संबंध पानी से है। इसलिये ऐसे उत्तर जिनका संबंध भावना-ग्रंथि से है, देर में मिले हैं। अव्यक्त मन नहीं चाहता कि उसकी सच्ची इच्छा मालूम हो जाय, और उसकी अभिलाषा की पूर्ति में बाधा पड़े। उपर्युक्त दृष्टांत में ज़ुंग के अनुसार पानी में डूब मरने की भावना-ग्रंथि परीक्षार्थी के मन में विद्यमान थी।

जिन शब्दों से दबी हुई भावना का पता चलता है उनको चित्त-विश्लेषण शास्त्र में ग्रंथिसूचक शब्द (मॉडल आइडिया) कहते हैं। कई एक परीक्षाओं में देखा गया है कि इन शब्दों के कहने पर परीक्षार्थी के मस्तिष्क में ऐसे शब्द आते हैं जिनका उस शब्द से सामान्यतः कोई संबंध नहीं दिखाई देता। साधारणतया स्मृति के नियम के अनुसार कोई शब्द या तो उसके समान भाव की याद दिलाता है या विपरीत भाव की, या ऐसे भाव की याद दिलाता है जो उसके साथ ही अनुभूत हुआ हो। पर किसी विशेष अवस्था में विक्षिप्तता में यह सब नियम काम नहीं देते।

यहाँ पर सामान्य बंधनों को अव्यक्त की दबी हुई भावना काट देती है और तब व्यक्ति को सामान्य संबंधी विषय-विस्मरण होने लगते हैं।

चित्तविश्लेषण शास्त्रज्ञों ने मोहनिद्रा तथा दूसरे उपचारों द्वारा परीक्षित व्यक्ति के चित्तविश्लेषण से यह निश्चित कर दिया है कि ऐसी विस्मृति का कारण भावना-ग्रंथि ही है।

डाक्टर कार्डिनर ने अपनी एक पुस्तक में एक रोगिणी के बारे में वर्णन किया है कि एक युवती एक बार किसी विश्लेषण चिकित्सक के पास आई और कहने लगी कि कुछ दिन से हर छठे सप्ताह में मुझे एक हिचकी आने का सा धक्का लगता है और कुहनी पर धक्का इतने जोर से लगता है कि हाथ इस प्रकार उछलता है मानो किसी को मारना चाहता है। उसे यह भी याद न था कि यह स्थिति आरंभ कब से हुई। विश्लेषण चिकित्सक ने उसे अपनी तांत्रिक विधि से अभिभूत कर मालूम किया कि उसका दांपत्य जीवन सुखमय नहीं है और वह अपनी बहन से जिनका दांपत्य जीवन बहुत सुखी है, ईर्ष्या करती है। पहले पहल इन धक्कों का लगना तब शुरू हुआ जब एक दिन वह अपनी बहिन के यहाँ गई थी और वहाँ एक ही मेज पर बैठ कर भोजन कर रही थी। वह बहिन के वैभव को न सह सकी और अव्यक्त में ध्वनि होने लगी कि बहिन को मार दे। विवेकयुक्त व्यक्त इसके विरुद्ध था, अतः दबी हुई भावना इस प्रकार रोग के रूप में अभिव्यक्त हो उठी। जब उसको यह सब मालूम हो गया तो उसका रोग भी दूर हो गया।

डा० फ्रायड, होमरलैंड आदि ने कई एक व्यक्तियों को जिन्हें सेना में तोप तथा बम के शब्द से लकवा हो गया था, अच्छा किया है। उन व्यक्तियों को लड़ाई में भय से या प्राणियों का नाश देखकर दया के कारण युद्ध से विरति होती थी। दूसरी ओर कायरता तथा देशभक्ति के अभाव का लांछन युद्ध के लिये प्रेरित करता था। इस प्रकार अव्यक्त से उत्थित भय तथा दया की भावना को विवेकप्रेरित व्यक्त ने कायरता, देशद्रोह आदि के लांछन के भय से दबा दिया परंतु

भावनाएँ प्रबल थीं और प्रबलतया दबाई जाने से लकवा के रूप में उदित होकर मनुष्य की मुक्ति का कारण हुईं। बाद में जब डाक्टरों ने उनके रोग का रहस्य समझाया तो रोग से भी उनकी मुक्ति हो गई[1]।

अधिकतर काम और मजहब से संबंध रखने वाली वासनाएँ दबाई जाती हैं। यही दो क्षेत्र हजारों रोगों की उत्पत्ति के कारण हैं। मानसिक विश्लेषण चिकित्सा शास्त्रज्ञों के प्रयोगों द्वारा विदित हुआ है कि अधिकतर मृगी, उन्माद, मानसिक नपुंसकता, तथा अन्य शारीरिक क्षणिक तीक्ष्ण वेदनाएँ और चर्मरोग कामप्रवृत्ति के अवरोध से होते हैं। हिंदुस्तान में छोटे बच्चों का युवती स्त्री से ब्याह करना साधारण सी बात है। खास कर उच्च ब्राह्मण वंशों में और बड़े बड़े ताल्लुकेदार या जमींदारों

---

[1] प्रो० निक्सन ने जो आजकल वैष्णव साधु हो गए हैं, लेखक से अपनी आत्मकथा कही है। उनका कहना है कि उन्हें वैराग्य इसी से आया कि गत महायुद्ध में हवाई जहाज के अधिनायक के रूप में उन्होंने बहुत सी हत्याएँ की थीं, जिसके कारण उन्हें पीछे इतनी प्रबल आत्म-ग्लानि हुई कि सर्वस्वत्याग हरिभजन की शरण लेनी पड़ी। यदि युद्ध कुछ काल और रहता और आत्म-ग्लानि तीव्र हो जाती तो अवश्य वह भी या तो पागल हो जाते या लकवा आदि के होने से युद्ध के अनुपयोगी हो गए होते। ऐसे ही जब कोई मनुष्य गुप्त रूप से किसी प्रकार की हत्या करता है और विवेक उस कर्तव्य को ग्लानिपूर्वक देखता है तो कई एक प्रकार की शारीरिक कुचेष्टाएँ, जैसे विक्षिप्त होकर सिर पटकना हाथों को बराबर धोने के इशारे से फेरते रहना आदि क्रियाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतएव कहा भी है कि हत्या मूक होते हुए भी बोलती है। अर्थात् अव्यक्त वासनाएँ व्यक्त के द्वारा तिरस्कृत की हुई किसी न किसी चेष्टा के द्वारा व्यक्त हो ही जाती हैं।

में अपने गौरव और जाति के बड़प्पन की रक्षा का खयाल होने से छोटी अवस्था के बालकों का बड़ी अवस्था की लड़कियों से विवाह संबंध होना तो बहुत मामूली सी बात है। इस प्रकार का संबंध भी बहुत से मानसिक रोगों का मूल कारण होता है। जिन बालकों के अभिभावक सतर्क नहीं रहते वा जिनके अभिभावक आवश्यकता से अधिकस तर्क रहते हैं वे भी बच्चों के मानसिक रोगों के बढ़ाने में बहुत कुछ कारण वा सहायक होते हैं। उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अव्यक्त वासनाओं की तृप्ति न होने से उनके अवरोधजन्य रोग उत्पन्न होते हैं और अनुचित तृप्ति होने पर आत्मग्लानि द्वारा तज्जन्य रोग होते हैं।

बालमन और अंतर्द्वंद्व

बालक की इच्छाओं का अवरोध—हरएक व्यक्ति अपने शैशव काल में अनेक प्रकार के दुःख और दमन सहता है। उसकी आंतरिक भावनाएँ और इच्छाएँ विकास का मार्ग नहीं पातीं। बड़े बूढ़े लोग सदा उसकी स्वाभाविक वृत्तियों का दमन किया करते हैं। वे लोग सदा अपने पैमाने से ही बालक के स्वभाव की माप किया करते हैं। फ्रांस के रूसो नामक मनोविज्ञानवेत्ता ने इस प्रकार की चेष्टा का अनौचित्य अपनी एमिल नाम की पुस्तक में भली भाँति समझाया है। इसका असर पश्चिम के विद्वानों और शिक्षकों पर पर्याप्त रूप से पड़ा है। इसलिये उनका दृष्टिकोण बालक के स्वभाव की ओर बहुत कुछ बदल गया है। आधुनिक काल के किंडरगार्टन, मांटीसोरी शिक्षा-पद्धति तथा डाल्टन प्लैन इसी के परिणाम हैं। पर पूर्व में तो ऐसे विचारों का केवल बीजारोपण ही हुआ है। हमारे भाव

बालक के प्रति वैसे ही हैं जैसे यूरप के विद्वानों के विचार रूसो के पहिले थे।

बालकों के दुराचार—अभिभावक तथा शिक्षक बालक की भावनाओं का आदर नहीं करते। वे यह भी नहीं जानते कि उनकी बचपन की चेष्टाओं और इच्छाओं का बालक के जीवन के विकास में कितना महत्त्व है। जब बालक अनेक प्रकार की मीठी मीठी खाने की चीजें माँगता है तो प्रायः हम उसकी इन इच्छाओं का तिरस्कार करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बालक चोरी करके अपनी खाने की इच्छा को संतुष्ट करनेका प्रयत्न करता है। तब हम यह समझते हैं कि बालक को शैतान ने अपने काबू में कर लिया है। उसे अनेक प्रकार के दंड दिए जाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप बाह्यरूप से बालक अपनी बुरी आदतों को छोड़ देता है, पर वास्तव में उसके चरित्र में कुछ भी उन्नति नहीं होती। इसी तरह से जब हम बालक को पढ़ने से जी चुराते हुए या बड़ों की अवज्ञा करते अथवा झूठ बोलते या दूसरे लड़कों को तंग करते हुए देखते हैं तो हम एकदम क्रुद्ध हो अनेक प्रकार के दंड देने लगते हैं। पर इस तरह बालक की चाल चलन नहीं सुधरती और न उसके चरित्र ही में उन्नति होती है। ऐसा बालक या तो बड़ा उद्दंड हो जाता है या एक दब्बू मनहूस व्यक्ति बनकर अपना जीवन व्यतीत करता है। बालक के जीवन में वास्तविक सुधार करने के लिये हमें उसके अव्यक्त मन का अध्ययन करना चाहिए। जिन लोगों ने इसका अध्ययन किया है वे कहते हैं कि बालक की ऐसी उद्दंड चेष्टाओं और क्रियाओं का कारण एक ऐसी आंतरिक बीमारी है जिसको हम इन बाहरी उपचारों से नहीं हटा सकते। बालक की उद्दंडता तो उस बीमारी का लक्षण स्वरूप है। बीमारी के

रहते इन लक्षणों के हटाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। चित्त-विश्लेषण शास्त्र ने बालक के दुराचार का वास्तविक कारण बता कर मनुष्यमात्र का बड़ा ही कल्याण किया है । इस शास्त्र के द्वारा हम बालक की उन छिपी भावनाओं को जानते हैं जिसके कारण उसके चरित्र में अनेक प्रकार के दोष हमें दिखाई पड़ते हैं।

विस्मृति—दबी भावना असाधारण विस्मृति उत्पन्न करती है । यहाँ एक उदाहरण जो डंभिल महाशय ने अपनी 'फंडामेंटल्स आफ सायकालजी' नाम की पुस्तक में दिया है, उद्धृत करना अनुचित न होगा । एक नौ वर्ष की अँगरेज बालिका फ्रेंच भाषा पढ़ने में पिछड़ने लगी । उस भाषा को पढ़ने में उसे बड़ी कठिनाई होती थी, क्योंकि वह शब्दों के बहुवचन बनाने के नियम याद नहीं कर सकती थी । शिक्षकों के अनेक प्रयत्न करने पर भी उसकी स्मरणशक्ति में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। इससे लोग त्रस्त हो गए। जब अपने प्रयत्न से लोग थक गए तब उन्होंने एक चित्तविश्लेषण विज्ञान के ज्ञाता को उसे दिखाया और उसकी सहायता लड़की की स्मरणशक्ति सुधारने में माँगी। चित्तविश्लेषक ने उसकी चेष्टाओं, स्वप्न और पुराने जीवन का अध्ययन किया । लड़की का व्यवहार अपने संबंधियों के प्रति उदासीनता का था । वह अक्सर स्वप्न देखा करती थी कि उसके सब संबंधी मर गए और वही अकेली जीवित रह गई । जब उसके पिछले जीवन का अध्ययन किया गया तो मालूम हुआ कि कुछ वर्ष पहिले उस बालिका पर माता पिता का अत्यधिक प्रेम था पर जब से उसके एक छोटा भाई पैदा हुआ तब से उनका प्यार उस लड़की के प्रति घट गया था और वे नए बालक को प्यार करने लगे थे । अभी इस बच्चे की उम्र चार वर्ष की थी। थोड़े दिन पहिले तक यह बच्चा अपनी

बहिन को खूब प्यार करता था और जो कुछ वह कहती थी वैसा ही करता था। जहाँ कहीं जाती थी वहाँ जाता था। पर अब उसका यह व्यवहार बदल गया और वह अपनी बहिन को अनेक तरह से चिढ़ाने तथा मानसिक दुःख देने की कोशिश करने लगा था। खेल खेल में वह अपने आपको अपनी बहन के योग्य सिद्ध करने की चेष्टा किया करता था। इसका फल यह हुआ कि मन ही मन उसकी बहन उससे घृणा करने लगी परंतु यह भाव वह कभी प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाती थी। वह अपने माता पिता से भी असंतुष्ट रहती थी क्योंकि उन लोगों ने उसे अब एक तरफ छोड़ दिया था और अपना सारा प्रेम छोटे बच्चे को दिया था। अतएव उसका अव्यक्त मन सदा अपने संबंधियों का बुरा ही चाहता था या उन्हें शाप दिया करता था। वह अपने परिवार में दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति नहीं चाहती थी। उसे एकवचन ही प्रिय था, बहुवचन नहीं। इसलिये फ्रेंच पढ़ने में बहुवचन के नियम याद रखने से उसे कठिनाई पड़ी।

पढ़ाई में उदासीनता—अब हम एक उदाहरण और देते हैं जो फिष्टर महाशय ने दिया है। एक बड़ा चतुर बालक अपनी पढ़ाई में पिछड़ने लगा और यह देखा गया कि वह कुछ विषयों में तो होशियार है पर कुछ विषयों का अध्ययन करने में असमर्थ है। वह पदार्थ-विज्ञान और हाथ की करीगरी में होशियार था पर गणित और भाषा में उन्नति करने में असमर्थ था। उस बालक को जब चित्तविश्लेषक के पास ले गए तो मालूम हुआ कि पहले दो विषय पढ़ने के लिये तो उसकी माँ कहा करती थी पर भाषा और गणित पढ़ने को उसके पिता उसे बाध्य करते थे। पिता के प्रति इस बालक का प्रेमभाव नहीं था, अतएव इन विषयों के प्रति भी प्रेम का अभाव हो गया। वह इन विषयों को घृणा

की दृष्टि से देखने लगा। जब पिता के प्रति उसकी भावनाग्रंथि का निवारण हुआ तो वह गणित और भाषा में भी वैसा ही काम करने लगा जैसा दूसरे विषयों में करता था।

उपर्युक्त दृष्टांतों से यह सिद्ध होता है कि जो व्यक्ति बालक की मनोवृत्तियों को कुचल देता है वह बालक की मानसिक शक्ति तथा व्यक्तित्व को अनेक प्रकार से हानि पहुँचाता है, और जो उनको विकास का मार्ग देता है वह उनकी आध्यात्मिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाता है। बालक उसकी कही हुई बात बड़ी दृढ़ता से मन में धारण करता है।

तेजहीनता—बहुत से बालकों के व्यक्तित्व की उन्नति इसलिये रुक जाती है कि उनके शिक्षक उनकी आंतरिक भावनाओं, इच्छाओं, और प्राकृतिक आवश्यकताओं को नहीं जानते। हमें ऐसे अनेक बालक दिखाई देते हैं जिनके चेहरे से बुद्धूपन टपकता है। इसका कारण उनके प्रति लोगों का उदासीनता का व्यवहार है। उनका पालन पोषण प्रेम से नहीं किया गया; उनको अनेक प्रकार के नैतिक बंधन में डालने का प्रयत्न किया गया; उनकी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाई। इस बात की पुष्टि के लिये हम यहाँ पर अन्नाफ्राइड की 'साइको-एनालिसिस एंड एजूकेशन' नाम की पुस्तक में दिया हुआ एक उदाहरण उद्धृत करते हैं।

एक बहुत ही योग्य महिला ने अपनी आजीविका के लिये अठारह वर्ष की आयु में शिक्षक का पेशा ग्रहण किया। वह अपने झगड़ों के कारण घर छोड़कर एक रईस के तीन बालकों की अभिभाविका और शिक्षिका बनी। उन तीन बालकों में से मँझले लड़के को शिक्षा देने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। वह बालक अपना पाठ याद करने में सदा पिछड़ जाता

था और देखने में बड़ा बुद्धू मालूम होता था। वह उस परिवार में उच्च स्थान नहीं रखता था। उसके दोनों भाई उसकी अपेक्षा अधिक संमानित होते थे। अभिभाविका ने अपनी सारी शक्ति इसी बालक की शिक्षा और सुधार में लगाई और थोड़े ही समय में भारी सफलता प्राप्त की।

वह लड़का उसे बहुत प्यार करने लगा और वह अपने सब भाव उससे प्रकट करने में बिलकुल नहीं हिचकता था। उसका मन अब पाठ में लगने लगा और वह इतने चाव से पढ़ने लगा कि जो कार्य दूसरे बालक दो साल में पूरा करते उसे उसने एक साल में ही कर डाला। अब वह अपने दोनों भाइयों से पढ़ाई में किसी तरह पीछे नहीं रहता था, वरन् उनसे आगे ही बढ़ रहा था। उसके माता पिता उसे अब खूब प्यार करने और उसे अपने कुटुंब का गौरव बढ़ाने वाला समझने लगे। उसके भाई भी उसका संमान करने लगे। कुछ दिनों के बाद ही उसका स्थान कुटुंब में सर्वप्रथम हो गया। पर इस समय एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। अब उस अध्यापिका और बालक में मनोमालिन्य तथा संघर्ष पैदा हो गया। अध्यापिका ने उस बालक को प्रेम की दृष्टि से देखना बंद कर दिया। कुछ काल के बाद उसी बालक के कारण उसने उस परिवार की नौकरी छोड़ दी जिसे वह सबसे अधिक प्यार करती थी!

जब पंद्रह वर्ष बाद उस अध्यापिका की एक चित्तविश्लेषक ने परीक्षा की तो उसे इस ऊपर कही क्रिया और प्रतिक्रिया का सच्चा कारण मालूम हुआ। अपने बचपन में यह अध्यापिका भी इसी तरह घर में जीवन व्यतीत करती थी जैसे वह तिरस्कृत बालक। इसलिये उसके अव्यक्त मन ने इस बालक से अपना तादात्म्य कर लिया। उस बालक को प्यार करने और उसको

बारे में चिंतित रहने का अर्थ यह था कि उसकी अंतरात्मा संसार से कहती थी कि मेरे जीवन को कामयाब बनाने के लिये मुझे इस तरह से रखना चाहिये था। ये सब भावनाएँ अव्यक्त मन की थीं। पाठिका के व्यक्त मन को उसका कुछ भी ज्ञान न था। अतएव जब कामयाबी प्राप्त हुई तो उस तादात्म्य का अंत हो गया और वह अध्यापिका उस बालक को प्यार न कर सकी, उसके प्रति द्वेषभाव रखने लगी। उसका अव्यक्त मन जिस सुखी अवस्था में स्वयं नहीं पहुँच पाया था उसमें बालक को भी नहीं देखना चाहता था। अतएव बालक से झगड़े के अनेक कारण उपस्थित हो गए।

शारीरिक रोग—हेडफील्ड ने अपनी मनोविज्ञान संबंधी 'साइकोलाजी एंड मॉरल्स' नामक पुस्तक में एक विचित्र रोगी का वर्णन इस रूप में किया है—जर्मनी के एक प्रसिद्ध वकील को प्रायः पैर में दर्द हो जाया करता था। उसे उसका कारण मालूम न था। डाक्टर लोग भी दर्द का कारण न बता सके। परंतु एक चित्तविश्लेषक ने छिपे हुए कारण का पता लगाया। अपनी शैशवावस्था में वकील साहब जब पढ़ने के लिये स्कूल जा रहे थे तो रास्ते में उन्होंने एक रोगी को देखा जिसका पाँव बग्गी से कुचल कर पिस गया था। उसकी दशा देखकर बालक को बहुत दया आई। यहाँ तक कि उसकी समवेदना से पीड़ित होकर उस दिन वह स्कूल भी समय पर न पहुँच सका और कक्षा में अध्यापक के प्रश्नों का उत्तर भी ठीक-ठीक न दे सका, जिसके कारण क्रुद्ध होकर अध्यापक ने उसे दंड दिया। बालक अपनी कक्षा में सबसे बुद्धिमान था अतः उसे अध्यापक की यह ताड़ना बहुत अपमान-जनक प्रतीत हुई। यह भावना आरंभिक जीवन में शांत न हो सकी और पीछे यही भावनाग्रंथि पैर की पीड़ा के

रूप में व्यक्त हुई। वकील साहब को वेदना तब होती थी जब वे अपने किसी मुकद्दमे में हार जाया करते थे। दूसरे के कुचले हुए पाँव की वेदना भोक्ता से उठकर दर्शक पर आ उपस्थित हुई और स्वापमान की भावना से सशक्त हो गई। जो व्यक्ति जिस भावना को अपने मन में दृढ़ता से धारण करता है वह स्वतः अपने में उसका अनुभव करने लगता है। पीड़ा उसी समय होती थी जब वकील साहब आत्मापमान का अनुभव करते थे।

यह एक असाधारण घटना है। पर इससे बालकों के मन में समवेदनापूर्ण भावना के एकाएक अवरोध से जो उथल पुथल मचती है और उसका जो परिणाम होता है वह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है।

अभिभावकों तथा शिक्षकों का कर्तव्य—उपर्युक्त उदाहरण जो अव्यक्त मन की सूक्ष्म क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को प्रगट करते हैं, अभिभावकों तथा शिक्षकों के लिये बड़े महत्त्व के हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो बालक अपने स्वजनों के प्रेम से वंचित रहते हैं अथवा जिनका सदा तिरस्कार हुआ करता है उनका उत्साह और स्फूर्ति बिलकुल जाती रहती है। वह कोई भी साहस का काम अपने जीवन में नहीं कर सकता। दूसरी ओर यह उदाहरण उन शिक्षकों के आंतरिक मनोभावों, विकारों तथा सुप्त संस्कारों पर प्रकाश डालता है जो कि अक्सर बालकों की शिकायत किया करते हैं। हम कई एक शिक्षकों में बालकों को दंड देने की प्रबल इच्छा देखते हैं। इसका कारण उनके सुप्त संस्कार हैं। वही व्यक्ति शिक्षक बनने के योग्य है जिनका मन स्वस्थ हो तथा जिसके संस्कार इतने शुभ हों कि वे उसे सदा प्रसन्न बनाते रहते हों।

चित्त-विश्लेषण शास्त्र के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि

जिस बालक की इच्छाएँ कुचल दी जाती हैं वह कभी बलवान और प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हो सकता। वह सदा दब्बू बन-कर रहता है और उसमें दूसरों के सामने दृढ़ता से खड़े रहने की शक्ति नहीं रहती। यहाँ अन्नाफ्रायड की पुस्तक से एक उदाहरण लेना अनुचित न होगा।

एक बालक को मिठाई खाने की बड़ी प्रबल वासना थी। यहाँ तक कि वह अपनी इच्छा पूरी करने के लिये कुछ पैसे भी चुरा लेता था। उसके माता-पिता ने इस बुरी लत को छुड़ाने का भरसक यत्न किया। वे इसमें कुछ समय के बाद सफल भी हुए। बालक की मिठाई खाने की इच्छा जाती रही और उसके आचरण में ऊपरी दृष्टि से देखने में सुधार भी हो गया। पर जब यह बालक जवान हुआ तो उसमें डर का भाव रह गया।

हमें बालकों के अनेक अनुचित कार्यों का कारण उनके अव्यक्त मन के अध्ययन से ज्ञात हो सकता है। झूठ बोलना, डींग मारना, आज्ञा की अवहेलना करना, दूसरे बालकों को सताना, स्कूल के सामान खराब करना, चोरी करना, बीड़ी पीना इत्यादि बालकों के ऐसे अनेक कार्य हैं जिनका कारण उनके मन की भावनाग्रंथियाँ होती हैं। इन भावनाग्रंथियों से जब बालक का अव्यक्त मन मुक्त हो जाता है तो उसके आचरण में सहज ही सुधार हो जाता है। दूसरों से प्रशंसित होने की इच्छा सभी में रहती है। यह एक अच्छी इच्छा है। इसके कारण मनुष्य उन भले कामों को करता है जिनसे समाज का बड़ा उपकार होता है। पर जब यही इच्छा अपने विकास का योग्य मार्ग नहीं पाती तो वह किसी अयोग्य मार्ग को ग्रहण कर लेती है। तब व्यक्ति ऐसे कार्यों को करने लगता है जिनसे लोग उसकी निंदा करें। राबर्ट क्लाइव के चरित्र को यदि हम देखें तो

इन्में यह बात स्पष्ट हो जायगी। वह बचपन में अपने माता-पिता के प्रेम से वंचित था। इसलिये वह सदा उत्पात करके उन्हें और गाँव के रहने वालों को त्रास देता था। उससे लोग तंग आ गए थे। इसलिये उन्होंने उसे भारतवर्ष भेज दिया। पर यहाँ उसकी सबसे प्रशंसित होने की इच्छा ने विकास का योग्य मार्ग पा लिया और वह अपने देश और जाति के लिये अमूल्य कार्य कर गया। इसी तरह यदि हम उद्दंड बालक को उसका स्वभाव समझकर उसके योग्य कार्य में लगा दें तो वह समाज के लिये अनेक भलाई के काम कर सकता है।

अभिभावकों और शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालक की अंतर्हित शक्तियों का अध्ययन करें, उनकी प्रवृत्तियों को जानें और तदनुसार उनको विकास का मार्ग दें। शिक्षा का लक्ष्य बालक को स्वावलंबी बनाना है। स्वावलंबन की योग्यता प्राप्त करना जीवन के अनेक अनुभवों का फल होता है। यदि हम बालक को सदा ही कठोर नियम में रखेंगे तो उसे अपनी किसी प्रकार की चेष्टा का वास्तविक मूल ज्ञात ही न होगा और उसकी कार्य करने की शक्ति भी विकसित न होगी। अतएव बालक की इच्छाओं को उसकी अवस्था के अनुकूल चरितार्थ होने देना शिक्षक का परम कर्तव्य है। संयम से जीवन सार्थक बनता है न कि दमन से। बालक में आत्म-नियमन की योग्यता पैदा करना शिक्षा का उद्देश्य है और यह तभी सफल हो सकता है जब बालक शक्ति-संपन्न हो और उन शक्तियों का उचित रूप से उपयोग करने का उसे अभ्यास हो।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

भाषा और विचार विकास

भाषा ज्ञान की उपयोगिता—भाषा अपने भावों के प्रकाशित करने का प्रमुख साधन है। भाषा के द्वारा बालक समाज से अपना संपर्क स्थापित करता है। जबतक बालक में बोलने की शक्ति नहीं होती, न हम उसकी आवश्यकताओं को भली भाँति जान सकते हैं और न वह हमारे भावों को समझ सकता है। भाषा चिंतन करने का भी मुख्य साधन है। बिना भाषा ज्ञान के कोई मनुष्य चिंतन नहीं कर सकता। जैसे-जैसे बालक का भाषा का ज्ञान बढ़ता है और उसमें भाषा के द्वारा अपने आपको व्यक्त करने की शक्ति आती है वैसे-वैसे उसकी विचार करने की शक्ति भी बढ़ जाती है। भाषा और विचार एक ही तथ्य के दो पहलू माने गए हैं। बिना भाषा ज्ञान के चिंतन संभव नहीं और बिना विचार करने की इच्छा के भाषा ज्ञान की वृद्धि होना संभव नहीं।

देखा गया है कि जिन बालकों की बोलने की शक्ति जितनी अधिक होती है वे उतने ही अधिक बुद्धिमान् होते हैं। किसी भी व्यक्ति के शब्दों के भंडार को जानकर उसके विचार करने की शक्ति का पता लगाया जा सकता है। जिन देशों की

भाषा असंपन्न रहती है उनका ज्ञान भी असंपन्न रहता है जब हम किसी बालक का भाषा-ज्ञान बढ़ाते हैं तो हम उसे चिंतन करने का और आत्मप्रकाशन का एक साधन देते हैं। मनुष्य की भाषा जितनी ही स्पष्ट होती है उसके विचार भी उतने ही स्पष्ट होते हैं।

भाषा विकास की अवस्थाएँ—भाषा विकास की अवस्थाओं को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) निरर्थक शब्द उच्चारण
(२) एक-पदी वाक्य उच्चारण
(३) कर्ता और क्रिया उच्चारण
(४) सरल वाक्य का उच्चारण

बालक पहले पहल ऐसे अनेक शब्दों का उच्चारण करता है जिनका अर्थ वही समझ सकता है। वह इन शब्दों से अपने भावों को व्यक्त करना चाहता है। कभी-कभी वह इस कार्य में समर्थ होता है, पर अधिकतर उसकी भाषा को हम लोग समझ नहीं पाते। पर बालक का इस प्रकार का प्रयास उसकी भाषा विकास के लिये अत्यंत आवश्यक है। बोलना एकाएक नहीं आता। किसी भाषा के शब्द उच्चारण करने में शरीर के अनेक अवयवों से काम लेना पड़ता है। फेफड़ा, गला, जीभ, ओठ और मस्तिष्क प्रत्येक शब्द के उच्चारण में काम करते हैं। इन सबके उचित सहयोग से ही सार्थक शब्द का उच्चारण होता है। निरर्थक शब्दों के उच्चारण करने से बालक अपने इन अवयवों को सहयोग से काम करने का अभ्यास करा लेता है। साथ ही साथ वह भाषा-ज्ञान की उपयोगिता भी समझ जाता है। जब बालक कोई निरर्थक शब्द

कहता है तब भी हमारा ध्यान वह अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस तरह वह जान लेता है कि उसे बड़ों का अनुकरण करके शीघ्र ही सार्थक शब्दों को सीख लेना चाहिए।

भाषा-ज्ञान की दूसरी अवस्था एक-पदी वाक्य उच्चारण की अवस्था है। जब बालक कुछ पदार्थों के नाम जान लेता है तो उनके संबंध में अपने अनेक प्रकार के भावों को प्रकाशित करने के लिये उन शब्दों को उच्चारण करता है। ये शब्द संज्ञा शब्द ही होते हैं। पर इन शब्दों को सामान्य संज्ञा शब्द मात्र न समझना चाहिये वे एक पूरे वाक्य के प्रतीक होते हैं। एक ही शब्द से बालक भिन्न-भिन्न भावों को प्रकाशित करता है।

मान लीजिए बालक माँ शब्द कहता है। माँ शब्द बालक इतने अर्थ में कह सकता है—माँ मुझे भूख लगी है, माँ इधर आओ, माँ उधर देखो, माँ कुत्ता काट रहा है, माँ यह खिलौना उठा दो, आदि। बालक एक-पदी शब्द उच्चारण करने के साथ-साथ कुछ इशारे भी करता है। शब्दों और उन इशारों को मिलाकर ही बालक के वास्तविक भाव को समझा जा सकता है। जब बालक "माँ" कहकर माँ को बुलाना चाहता है तो हाथ से भी इशारा करता है। इसी प्रकार वह कुत्ते का भी नाम पुकारकर हाथ का इशारा करता है।

एक-पदी वाक्य की अवस्था के पश्चात् बालक को क्रिया-पद का ज्ञान होता है। तीसरी अवस्था में बालक के वाक्यों में संज्ञा और क्रिया-पद रहते हैं। बालक "माँ आ" "रोटी ला" आदि वाक्यों का प्रयोग करने लगता है। जिन भावों को बालक अपने संकेतों से व्यक्त करता था वह अब उन्हें शब्दों से व्यक्त करने लगा।

भाषा विकास की चौथी अवस्था में बालक की भाषा में विशेषण और अव्यय शब्द पाए जाते हैं। इनका भाषा में आ जाना बालक में अपने ज्ञान के विश्लेषण करने की शक्ति के आ जाने का बोधक है। विशेषण और क्रिया-विशेषण सूक्ष्म विचार कर सकने की शक्ति के उदय के सूचक हैं। जब बालक समझकर इन शब्दों का प्रयोग कर सकता है तो वह सरल वाक्य का भली प्रकार से उपयोग कर लेता है। अब धीरे-धीरे भाषा में अनेक प्रकार की खूबियाँ और जटिलता आने लगती है। सरल वाक्य के पश्चात् बालक संयुक्त और जटिल वाक्य काम में लाने लगता है।

निरर्थक वाक्य उच्चारण की अवस्था साधारणतः ६ महीने तक रहती है, एक-पदी वाक्य की अवस्था ६ महीने से डेढ़ साल तक तथा क्रिया और संज्ञा के वाक्य की अवस्था १॥ वर्ष से २ वर्ष तक। इसके पश्चात् बालक सरल वाक्य का प्रयोग करने लगता है।

भाषा विकास के उपकरण—बालक का भाषा विकास उसकी प्रौढ़ावस्था तक होता ही जाता है। माता-पिता और शिक्षकों को भाषा विकास के नियमों को जानकर बालकों को अपनी भाषा के विकास में उचित सहायता देना चाहिए।

भाषा विकास के लिये पहली आवश्यकता बालक के इंद्रिय ज्ञान की वृद्धि है। जिस बालक का इंद्रिय ज्ञान जितना अधिक बढ़ा रहता है उसको बोलने की इच्छा उतनी ही अधिक रहती है। इंद्रिय ज्ञान की वृद्धि अनेक वस्तुओं को देखने, उन्हें हाथ में उठाने और उनमें तोड़ जोड़ करने से बढ़ता है। अतएव

जो बालक जितना ही अधिक चंचल होता है और खेलता कूदता है वह भाषा-ज्ञान में दूसरे बालकों से उतना ही आगे रहता है। खेलने-कूदने वाले बालक को अपने ज्ञान को प्रकाशित करने की आवश्यकता होती है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। अपने अनुभव को प्रकाशित करने के लिये बालक जितना उत्सुक होता है वह नए शब्द सीखने में उतना ही सफल होता है।

बालक के विद्या सीखने का दूसरा साधन बड़ों और सम-वयस्क बालकों का अनुकरण है। बालक शब्दों के सीखने में अपने माता-पिता का अनुकरण तो करता ही है वह अपने भाइयों और संगी साथियों का भी अनुकरण करता है। भाषा के विषय में अपनी ही उमर के बालक से वह जितना सीखता है प्रौढ़ व्यक्तियों से उतना नहीं सीखता। अपने साथियों से बोल-चाल करने में बालक अनायास भाषा सीख जाता है। इस तरह उसका शब्द भंडार बढ़ता है और वह उनका उचित प्रयोग करना भी सीख जाता है।

बालक जिस व्यक्ति को आदर अथवा प्यार की दृष्टि से देखता है उसी से वह भाषा ज्ञान प्राप्त करता है। जिस व्यक्ति के प्रति बालक का आदर अथवा प्रेम का भाव नहीं रहता उसकी भाषा बालक जल्दी नहीं सीखता। अनुकरण का यह नियम है कि छोटे लोग ही बड़े लोगों का अनुकरण करते हैं। अँगरेज लोग भारतवर्ष में बहुत दिनों तक रहकर भी इस देश की भाषा नहीं सीख पाते और हम थोड़े ही दिन जर्मनी अथवा फ्रांस में रहकर उन देशों की भाषा सीख जाते हैं। यही नियम बालक के भाषा सीखने में लागू होता है। जिस शिक्षक को बालक आदर की दृष्टि से देखता है उसकी भाषा वह शीघ्रता से सीख लेता है।

भाषा-विकास का तीसरा साधन बालकों से प्रश्नोत्तर करना है। इस प्रकार जान-बूझ कर बालक को भाषा सिखाई जा सकती है। जिन प्रश्नों को बालक हमसे पूछता है उनका जवाब हमें बड़ी सावधानी से देना चाहिए और फिर हमें भी उसकी देखी-सुनी बातों पर प्रश्न करना चाहिए। जो बालक इस प्रकार के प्रश्नोत्तर में जितना ही अधिक भाग लेता है उसके विचार उतने ही अधिक स्पष्ट होते हैं और उसका भाषा ज्ञान उतना ही अधिक बढ़ जाता है। भारतवर्ष की नई शिक्षा योजना के अनुसार बालकों से वार्तालाप करना बहुत आवश्यक समझा गया है। इससे बालकों के विचार विकास के साथ-साथ भाषा का ज्ञान अवश्य ही बढ़ेगा। पुरानी शिक्षा पद्धति में बालक चुपचाप बैठता था और शिक्षक जो कुछ कहता था वह सुनता था। इस प्रकार की प्रणाली से बालक का न तो ज्ञान विकसित होता है और न उसमें बोलने की शक्ति ही आती है।

बालकों के भाषा विकास का चौथा साधन बालकों से संगीत, अभिनय और भाषण कराना है। जो बालक जितनी ही अधिक प्रसन्नता से इन आत्म-प्रकाशन के कार्यों में भाग लेता है वह उतना ही अधिक अपना भाषा का ज्ञान बढ़ा लेता है। भाषा समाज के साथ अपना संपर्क स्थापित करने का साधन है। जिस व्यक्ति का समाज से जितना अधिक संपर्क होता है उसका भाषा ज्ञान भी उतना ही अधिक होता है। मनुष्य की किसी भी प्रकार की योग्यता अभ्यास के द्वारा बढ़ती है। जिस बालक को समाज में आकर गाने, अभिनय करने और व्याख्यान देने का शौक रहता है वह उतना ही अधिक भाषा के उपयोग करने में पटु होता है। बालकों को सभा में जब हम बोलने को तैयार करते हैं तो उनका आत्म-प्रकाशन का उत्साह बढ़ जाता है। इस प्रकार के उत्साह

की वृद्धि से वे अपने आपको दूसरे के समक्ष प्रकाशित करने के योग्य बनाने लगते हैं। वे शब्दों का चुनाव भली प्रकार से करते हैं और उनका अर्थ समझने की चेष्टा करते हैं।

भाषा सीखने में पुस्तकें पढ़ना और पठित विचारों को अपनी भाषा में लिखना भी लाभकारी होता है। सभी शिक्षक अपने विषय में पुस्तकों का उपयोग करते हैं और अपने पढ़ाए विषय पर लेख लिखवाते हैं। इस तरह चाहे जो विषय पढ़ाया जाय बालक का भाषा-ज्ञान बढ़ता है। प्रत्येक शिक्षक अपने विषय के अतिरिक्त भाषा का शिक्षक भी है। जबतक कोई शिक्षक अपने विषय संबंधी शब्दों का ठीक प्रयोग करना बालकों को नहीं सिखाता तब तक वह बालक को उस विषय का ठीक ज्ञान नहीं करा सकता। अतएव प्रत्येक शिक्षक को अपने कथन की भाषा तथा बालकों के द्वारा प्रयुक्त भाषा का भली प्रकार से ध्यान रखना चाहिए। भाषा का ढीलापन विचार परिपाटी में ढीलापन अथवा गोल-माल ले आता है।

भाषा शिक्षण विधि—जब कोई शिक्षक किसी कक्षा के बालकों की कोई पाठ पढ़ाता है तो उसे बालकों के मानसिक विकास का ध्यान रखना चाहिए। पुस्तकों के चुनाव में अधिकारी को यह सावधानी रखना चाहिए कि उनमें प्रयुक्त किए गए अधिक शब्द बालक की सामान्य बोलचाल की भाषा में हों, अथवा वे ऐसे हों जिन्हें बालक साधारणतः प्रतिदिन सुना करता है। बालकों की शब्दावली उनकी आयु के अनुसार बढ़ती जाती है। उनकी शब्दावली दो प्रकार की होती है—एक वह जो उनके संपूर्ण अधिकार में है और जिसे वे रोज काम में लाते हैं। यह उनकी प्रयोग शब्दावली है। दूसरी शब्दावली वह है जो बालक समझ सकता है पर जिसे प्रयोग में नहीं ला

सकता। यह उसकी समझ-शब्दावली है। प्रायः देखा जाता है कि हमारे देश में बालकों की पाठ्य-पुस्तकों में उनकी शब्दावली पर कोई ध्यान ही नहीं रहता। पुस्तक लिखने वाले यहाँ अपने अनुभव को भूल जाते हैं। दूसरे सभ्य देशों में प्रयोग द्वारा विभिन्न आयु के बालकों के काम में आनेवाले और उनकी समझ के भीतर वाले शब्दों की गणना की गई है। उनकी पाठ्य-पुस्तकों में अधिकतर वे ही शब्द काम में लाए जाते हैं जो उनकी शब्दावली में होते हैं। उनका शब्द-भंडार धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है।

शिक्षक को कक्षा में बोलते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालकों का भाषा-ज्ञान परिमित होता है। और उनकी चिंतन शक्ति भी कम रहती है। बालकों की कल्पना शक्ति प्रबल होती है। अतएव बालकों से धीरे-धीरे सरल शब्दों में बोलना चाहिए जिससे जब बालक किसी शब्द को सुने तो तत्संबंधी कल्पना को अपने मन में ले आवे। पाठ पढ़ाते, कहानी कहते, अथवा किसी दृश्य का वर्णन करते समय शिक्षक को बीच-बीच में ठहर जाना चाहिए। इस समय वह बालकों से कुछ प्रश्न करे जिससे बालक-गण शब्द मात्र को ही ग्रहण न करते रहें, कही गई बात के भाव को भी समझें। किसी नए शब्द के पढ़ाते समय शिक्षक को बालकों के अनुभव को काम में लाना चाहिए। छोटे बालकों को शब्दों के पर्याय-वाची शब्द देकर पढ़ाना मनोवैज्ञानिक भूल है, उन्हें उदाहरण देकर ही नए शब्दों को पढ़ाना चाहिए और उन्हें अपनी भाषा में प्रयुक्त कराना चाहिए।

बोलना पढ़ना और लिखना भाषा-ज्ञान की वृद्धि के तीन उपाय हैं। बोलना, पढ़ने के पहिले और पढ़ना लिखने के पहले

आता है। जीवन में इनका महत्त्व भी उत्तरोत्तर इसी क्रम से है। अतएव बालक को बातचीत के द्वारा ही बहुत सा ज्ञान दे देना चाहिए। सब समय उसकी शिक्षा में उससे बातचीत करने का ध्यान रखना चाहिए। पढ़ना लिखने से पहिले शुरू करना चाहिए और बालकों की शिक्षा में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक लिखने की अपेक्षा पढ़े अधिक और पढ़ने की अपेक्षा बोले अधिक। जिन लोगों को अधिक लिखते रहना पड़ता है वे बोलकर विचार प्रकाश करने की शक्ति को ही खो देते हैं। बोलने में लिखने की अपेक्षा विचारों की गति चौगुनी होती है। बोलने में जिस तत्परता और सावधानी की आवश्यकता होती है लिखने में नहीं होती। लिखने से विचारों की स्पष्टता और क्रमबद्धता रहती है अतएव इन गुणों को प्राप्त करने के लिये बालकों को कुछ लिखते रहना आवश्यक है। पर हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जो विचार बालक के अधिकार में हैं उन्हीं को बालक भले ढंग से रख सकता है। विचारों की वृद्धि बोलचाल से और पढ़ने से होती है। अतएव जिन विषयों पर बालकों से लेख लिखाए जायँ उनपर बालकों से पहिले ही बातचीत में विचार प्रकाशित करने का अभ्यास करा लेना चाहिए। देखा गया है कि जब कोई लेखक उस विषय पर पुस्तक लिखता है जो वह कक्षा के बालकों को पढ़ाता है तो उसकी पुस्तक बड़ी सुबोध होती है। कोई व्यक्ति यदि पहिले पहल लिखकर ही किसी कठिन विषय पर अपने विचार प्रकाशित करे तो हम देखेंगे कि उसकी बात सरलता से दूसरों की समझ में नहीं आती। अतएव बालकों में बोलकर अपने विचारों को प्रकाशित करने का अभ्यास कराना चाहिए।

———

विचार-विकास

भाषा-ज्ञान विचारों की वृद्धि का साधन है। भाषा साधन है और विचार साध्य। बिना भाषा के विचारों का विकसित होना संभव नहीं। जैसे जैसे बालकों में भाषा-ज्ञान की वृद्धि होती है उन्हें विचार करने की भी शक्ति अधिक आती है। बालक के विचार-विकास की निम्नलिखित अवस्थाएँ मानी गई हैं:—

(१) वस्तु-ज्ञान
(२) देश-ज्ञान
(३) गुण-ज्ञान
(४) काल-ज्ञान
(५) संबंध-ज्ञान

एक-दो वर्ष का बालक कोई वस्तु देखता, उसे हाथ में लेता और तोड़ता-फोड़ता है। इसी प्रकार उसका वस्तु-ज्ञान बढ़ता है वस्तु-ज्ञान का आधार बालक का इंद्रिय-ज्ञान है। इस समय बालक संज्ञा-वाची शब्द ही जानते हैं। जिस बालक को जितनी अधिक इधर-उधर जाने और खेलने की सुविधाएँ रहती हैं उसका वस्तु-ज्ञान उतना ही स्पष्ट होता है। यदि इस अवस्था वाले बालक के प्रश्नों को देखा जाय तो हम उसे विभिन्न वस्तुओं के नाम मात्र जानने के लिये उत्सुक पावेंगे। बालक अपनी अँगुली किसी नई वस्तु की ओर बढ़ाता है। वह जानना चाहता है कि वह पदार्थ क्या है। पदार्थ के नाम मात्र को जानकर वह संतुष्ट हो जाता है।

इस अवस्था के बाद बालक देश के ज्ञान के बोधक शब्दों को काम में लाने लगता है। "बाहर" "भीतर" "यहाँ" "वहाँ" आदि शब्द अब उसकी भाषा में मिलने लगते हैं। अब वह जानता

है कि कुछ पदार्थ दूर हैं और कुछ पास हैं। दूर के पदार्थों तक पहुँचने में उसे अधिक परिश्रम करना पड़ता है, समीप के पदार्थों को वह सरलता से प्राप्त कर लेता है। जो बालक जितना ही अधिक इधर उधर जाता है उसका देश-ज्ञान उतना ही स्पष्ट हो जाता है।

देश-ज्ञान के पश्चात् गुण-ज्ञान का विकास होता है। गुण-ज्ञान में चार प्रकार के ज्ञान प्रमुख हैं—आकार, आकृति, रंग और संख्या। पहले बालक को बड़े और छोटे का ज्ञान होता है। यही ज्ञान पीछे अधिक और कम के ज्ञान में परिणत हो जाता है। बड़े जानवर को देखकर बालक डरता है। इस तरह उसकी आत्म-रक्षा की प्रकृति उसे पदार्थों के आकार पहिचानने को बाध्य करती है। फिर बालक सब वस्तुएँ अधिक लेना चाहता है। थोड़े से उसे संतोष नहीं होता। वह अपने अधिक के भाव को हाथ फैलाकर बताता है।

बालक को आकार-ज्ञान के पश्चात् आकृति का ज्ञान होता है। वह गोल और चौकोर वस्तु में भेद करना सीख जाता है। किंतु वह पहले "गोल" और "चौकोर" नामों को नहीं जानता। जब वह इन नामों को जान लेता है तब उसका ज्ञान पक्का हो जाता है। बालकों के लिये आकृति पहचानने के अनेक खेल मैडम मांटसोरी ने बनाए हैं। इन खेलों के द्वारा बालक विभिन्न प्रकार की आकृतियों के भेद समझ जाता है।

बालक को रंग का ज्ञान एक साल की अवस्था से ही होने लगता है। वह बिना रंग के खिलौने के बदले चटकीले रंग के खिलौनों को पसंद करता है। वह लाल, पीले नीले रंग के फूलों को चाहता है पर वह इन रंगों के नाम नहीं जानता। तीन वर्ष की अवस्था के पूर्व बालक को रंगों के नाम नहीं आते।

रंगों का ज्ञान कराने के लिये बालक को बगीचे में घुमाना और विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ दिखाना आवश्यक है। मोंटी महोदय ने अपनी शिक्षा-पद्धति में बालकों को रंगों का ज्ञान कराने के लिये विशेष प्रकार के खेलों का आविष्कार किया है।

संख्या-ज्ञान सबसे जटिल ज्ञान है। चार वर्ष की आयु तक के बालक को वास्तविक संख्या-ज्ञान नहीं होता है। एक और दो का ज्ञान तो तीन साल से ही बालक को हो जाता है पर तीन का ज्ञान चार वर्ष की अवस्था में होता है। चार वर्ष की अवस्था के बालक अनुकरण के रूप में दस तक गिनती कह ले सकता है पर दस वस्तुओं को नहीं गिन सकता है। यदि बालक की अँगुलियों को गिनकर पांच अँगुली बता दें और उससे पूछें कि तुम्हारे हाथ में कितनी अँगुलियाँ हैं तो वह पाँच अँगुलियाँ कह देगा। पर यदि फिर हम अपने हाथ को अँगुलियों को उसे दिखाकर पूछें कि मेरे हाथ में कितनी अँगुलियाँ हैं तो वह नहीं बता सकेगा। इससे यह स्पष्ट है कि बालकों को चार वर्ष की अवस्था तक संख्या का वास्तविक ज्ञान नहीं होता।

गुण-ज्ञान के पश्चात् बालक को काल-ज्ञान होता है। पाँच वर्ष तक का बालक दिनों के नाम जान लेता है, पर उसे इन दिनों के काल का ज्ञान नहीं होता है। पहले बालक को नजदीक के काल का ज्ञान होता है और जैसे जैसे उसका घटनाओं का ज्ञान बढ़ता है उसका काल ज्ञान भी बढ़ता जाता है।

काल के साथ साथ बालकों में वस्तुओं के अनेक प्रकार के संबंध का ज्ञान होता है। देश और काल का ज्ञान कार्य-कारण भाव के विकसित होने के लिये आवश्यक है। कारण-कार्य का भाव आ जाने पर बालक पहले और बाद की घटनाओं में संबंध स्थापित करने लगता है। सात वर्ष से ऊपर की अवस्था वाले

बालक के प्रश्नों में "क्या", "कहाँ" और "कैसा" के अतिरिक्त "क्यों" वाले प्रश्न भी पाए जाते हैं।

संबंध-ज्ञान हो जाने पर बालक अपने विचारों को क्रमबद्ध करने लगता है।

विचारों के प्रकार—बालक के विचार दो प्रकार के होते हैं एक स्थूल और दूसरे सूक्ष्म। बालक के स्थूल विचार पदार्थों के आकार और आकृति से संबद्ध होते हैं तथा सूक्ष्म विचारों में गुण ज्ञान और संबंध ज्ञान की परिपक्वता पाई जाती है। स्थूल विचारों की अभिव्यक्ति में व्यक्तिवाचक और जातिवाचक संज्ञाएँ ही रहती हैं। किंतु सूक्ष्म विचारों में भाववाचक संज्ञाएँ भी आवश्यक होती हैं क्योंकि स्थूल विचारों में वस्तुओं के नामों की अधिकता रहती है और सूक्ष्म विचारों में उन प्रत्ययों की अधिकता रहती है जिनसे वस्तुओं के गुण और परस्पर संबंध का बोध होता है।

इस प्रकार बालकों के विचार-विकास में पहले व्यक्तिवाची फिर जातिवाची और भाववाची शब्दों की वृद्धि होती है। व्यक्ति का ज्ञान इंद्रियों की संवेदना मात्र से हो जाता है। जाति के ज्ञान के लिये बालक को उसी प्रकार की अनेक वस्तुओं को जानना और उनके गुणों की तुलना करना आवश्यक है। भाव के ज्ञान के लिये इससे भी अधिक मानसिक परिश्रम की आवश्यकता होती है अर्थात् वस्तुओं के विभिन्न गुणों को देखकर उनका विश्लेषण करके जब बालक एक ही प्रकार के गुणों के ऊपर अपने ध्यान को केंद्रीभूत करता है तब उसे भावों अर्थात् सूक्ष्म प्रत्ययों का ज्ञान होता है। "सचाई" "बुराई" आदि भावों के ज्ञान के लिये बालकों में एक ओर भाषा-विकास और दूसरी ओर अनुभव की वृद्धि और बुद्धि-विकास की आवश्यकता होती है। बालक की

बुद्धि के गुण जन्मजात होते हैं। हम उसका अनुभव औरभाषा-ज्ञान बढ़ा सकते हैं। हम उससे अनेक प्रकार के प्रश्न करके उसे अपनी बुद्धि को काम में लाने के लिये प्रोत्साहित कर सकते हैं।

शिक्षा द्वारा विकास—बालकों की शिक्षा का मुख्य ध्येय उनकी विचार करने की शक्ति को विकसित करना है। शिक्षा के द्वारा विचार-विकास दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो बालक का अनुभव बढ़ाकर और दूसरे उसे अपनी बुद्धि को काम में लाने के लिये प्रोत्साहित करके। बालक का अनुभव उसे अनेक वस्तुएं दिखाने से बढ़ाया जा सकता है। इसके लिये देशाटन बड़ा लाभकारी है। समय समय पर बालकों को बाहर ले जाकर अनेक वस्तुएँ दिखानी चाहिए। पुस्तक पढ़ने से भी बालकों का अनुभव बढ़ता है और अनेक पूर्व अनुभव को समझने में सहायता मिलती है।

पर विचार-विकास का मूल साधन बौद्धिक है। इसके प्रति बालकों को प्रोत्साहित करने के लिये उनकी उत्सुकता, रचनात्मक प्रवृत्ति और खेल की प्रवृत्ति से सहायता लेना आवश्यक है। बालक से इस प्रकार के अनेक प्रश्न पूछे जावें जिससे उसकी उत्सुकता बढ़े। साथ ही उसके प्रश्नों का उत्तर हमें बड़ी सावधानी से देना चाहिए।

अपने प्रश्न अपने आप हल करने के लिये हम बालक को जितना ही प्रोत्साहित करते हैं उसके विचार-विकास में हम उतना ही अधिक सहायता देते हैं। आधुनिक काल में ऐसी अनेक शिक्षा-विधियों का अन्वेषण हुआ है जिनके द्वारा बालक की स्वतंत्रतापूर्वक सोचने की शक्ति बढ़ती है। शिक्षक को ये विधियाँ जानना आवश्यक है। पाठ्य विषय चाहे जो हो हमें सदा यह देखना चाहिए कि बालक हमारी बनाई अथवा पुस्तक की बातों

को रट लेता है अथवा उनपर चिंतन करता है। बहुत से बालक रटकर परीक्षा में अधिक अंक पा लेते हैं। ऐसे बालकों की स्वतंत्रतापूर्वक सोचने की शक्ति कुंठित हो जाती है। उनमें किसी प्रकार का आत्म-विश्वास नहीं रहता है। यही कारण है कि परीक्षा में अधिक अंक पाने वाले विद्यार्थी संसार का उतना उपयोगी काम नहीं करते जितना पुस्तकों को कम पढ़ने वाले और बाल-समाज में अधिक हेलमेल से रहने वाले विद्यार्थी करते हैं। हमारी शिक्षा का ध्येय बालक को केवल पोथी-पंडित बनाना न होना चाहिए। जीवन-संग्राम में वही बालक सफल होता है जिसमें आत्म-विश्वास और स्वतंत्रतापूर्वक सोचने की शक्ति होती है। अधिक पुस्तकें पढ़ने और शिक्षक पर अधिक निर्भर रहने से बालक की स्वतंत्रतापूर्वक सोचने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इससे हमें बालक को बचाना चाहिए।

बाईसवाँ परिच्छेद

बुद्धि माप

बुद्धिमापक परीक्षा की उपयोगिता—बालकों में अनेक प्रकार के जन्मजात वैयक्तिक भेद होते हैं। इन भेदों में से बुद्धि का भेद बड़े महत्त्व का है। बालकों की बुद्धि को बचपन से ही जान लेना, उन्हें सुशिक्षित करने के लिये बड़ा आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान ने बालकों की बुद्धि मापने के लिये कई प्रकार की परीक्षाओं का अन्वेषण किया है। इन परीक्षाओं का महत्त्व दिन प्रति दिन बढ़ता जाता है। पश्चिम में तो इनका उपयोग सभी सभ्य देशों में होता है। भारतवर्ष में भी अब इनका प्रचार बढ़ रहा है।

बालक की बुद्धि को जानकर हम उसे उसके योग्य पाठशाला में भरती कर सकते हैं। कुछ बालक बड़े प्रतिभाशाली, कुछ मंद बुद्धि के और कुछ सामान्य बुद्धि के होते हैं। सामान्य बुद्धिवालों को सामान्य स्कूलों में पढ़ाना, मंद बुद्धिवालों को उनके उपयुक्त स्कूलों में भेजना, और प्रतिभावान बालकों को विशेष प्रकार की शिक्षा देना, उनके मानसिक विकास के लिये आवश्यक है। स्कूल की एक ही कक्षा में विभिन्न योग्यता के

बालक रहते हैं। स्कूल का दिया हुआ काम कुछ बालक थोड़े ही परिश्रम से कर लेते हैं और कुछ अधिक परिश्रम करके भी उसे पूरा नहीं कर पाते हैं। जो बालक थोड़े से परिश्रम से अपना काम पूरा कर लेते हैं, उन्हें बुद्धि संबंधी पर्याप्त परिश्रम करने के लिये और कोई कार्य नहीं मिलता। फिर ये बालक उद्दंडता में अपनी शक्तियों को खर्च करने लगते हैं। जब तक प्रत्येक बालक को उसकी बुद्धि के अनुसार काम नहीं दिया जाता तब तक हम यह नहीं जान सकते हैं कि प्रत्येक बालक ठीक से अपनी बुद्धि को काम में लाता है अथवा नहीं। स्कूल में होने वाली परीक्षाएँ इसमें काम नहीं देतीं। इन परीक्षाओं में बालक जो अंक पाते हैं वे यह नहीं प्रकट करते की प्रत्येक बालक अपनी योग्यता को पूरी तरह से काम में लाता है अथवा नहीं। कुछ बालक अधिक परिश्रम करके और कुछ थोड़ा परिश्रम करके समान अंक पाते हैं। पर वास्तव में जिस बालक की बुद्धि अथवा योग्यता जितनी अधिक हो उसे उतने अधिक अंक प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि के अनुपात के अनुसार अंक मिलने पर ही हम समझ सकते हैं कि बालक अपनी शक्ति का सदुपयोग कर रहा है अथवा नहीं।

बालकों की बुद्धि माप करके यह जाना जा सकता है कि कोई बालक अपने बौद्धिक विकास में पिछड़ रहा है अथवा नहीं। मानसिक झंझटों और घर के वातावरण के कारण अनेक बालकों की बुद्धि का विकास जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हो पाता। समय पर इन झंझटों को जान लेने से हम बालकों की बुद्धि के विकास में होने वाली रुकावटों को हटा सकते हैं। देखा गया है कि जब पिछड़नेवाले बालक का मानसिक अंतर्द्वंद्व मिटा दिया जाता है तब उसका बौद्धिक विकास भली प्रकार से होने लगता है।

बालकों की बुद्धि की भली भाँति जाँच करके उन्हें उसी काम में लगाया जा सकता है जिसके वे योग्य हों। कुछ बालकों में हाथ के काम करने की अधिक योग्यता होती है और कुछ में सूक्ष्म विचारों को ग्रहण करने की। अतएव विभिन्न प्रकार के बालकों को अपनी योग्यता के अनुसार काम दिया जाना आवश्यक है। जिस बालक में जिस प्रकार की जन्मजात विशेष योग्यता है उसे उसी प्रकार का काम देना उचित है जिससे उसकी योग्यता और भी विकसित हो और वह अपने आपको संसार का उपयोगी नागरिक बना सके। साहित्य-प्रिय को इंजीनियरिंग की शिक्षा देना और इंजीनियर होने वाले बालक को साहित्य की शिक्षा देना उसकी योग्यता का दुरुपयोग करना है।

बुद्धि-माप की पुरानी और नई रीतियाँ—बालकों की बुद्धि की जाँच शिक्षक गण सदा करते चले आए हैं। शिक्षा का कार्य बालकों की योग्यता को जाने बिना नहीं हो सकता। बालकों की समय समय पर परीक्षा ली जाती है। इससे उनकी योग्यता का पता चलता है। बालकों का प्रति दिन का काम देखकर और उनसे बातचीत करके भी उनकी योग्यता का पता लगाया जाता है। इस प्रकार शिक्षक अपनी कक्षा के बालकों की योग्यता के विषय में ज्ञान रखता है। यदि शिक्षक को यह ज्ञान न हो तो वह शिक्षा का कार्य ठीक से कर ही नहीं सकता। जब शिक्षक कक्षा के बालकों से कोई प्रश्न करता है तो वह जानता है कि कौन कौन बालक उस प्रश्न का उत्तर ठीक से दे सकते हैं। वह कोई प्रश्न पहले कमजोर बालकों से पूछता है पीछे होशियार बालकों से, जिसमें कक्षा के सभी बालकों का ध्यान पढ़ाई में रहे और सबको उससे लाभ हो।

बुद्धि की जाँच करने की पुरानी रीतियाँ इतनी निर्दोष नहीं हैं

कि उनसे हम बालक की बुद्धि का ठीक तरह से पता लग सकें। मासिक वा वार्षिक परीक्षाओं द्वारा बालक की जन्मजात बुद्धि का पता ठीक से नहीं लगता। साधारण बुद्धि का बालक भी अधिक परिश्रम करके उतने ही अंक प्राप्त कर सकता है जितना प्रतिभावान पाता है। अतएव इन परीक्षाओं से यह नहीं जाना जा सकता कि बालक परिश्रम के कारण अच्छे अंक पा रहा है अथवा बुद्धि के कारण। इसके अतिरिक्त शिक्षकों की राय भी उनको व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर करती है अर्थात् किसी उद्दंड किंतु बुद्धिमान बालक को शिक्षक मंद बुद्धि का समझ सकता है और किसी सुशील किंतु साधारण बुद्धिवाले बालक को प्रतिभावान। जिस बालक पर शिक्षक की कृपा होती है वह परिश्रम भी अधिक करने लगता है, अतएव इस रीति से बालकों की वास्तविक बुद्धि का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है।

आधुनिक बुद्धिमापक परीक्षाएँ इन दोषों से मुक्त हैं। इन परीक्षाओं का उद्देश्य बालकों की पढ़ाई की वा उनके परिश्रम की जाँच करना नहीं होता प्रत्युत इनसे उनकी जन्मजात बुद्धि के भेद पहिचाने जाते हैं। इन परीक्षाओं के प्रश्न ऐसे होते हैं जिन्हें प्रत्येक बुद्धिमान् बालक किसी विशेष अवस्था में ठीक से हल कर सके। इन परीक्षाओं के प्रश्न बालकों की पढ़ाई को नहीं वरन् सामान्य अनुभव को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं।

बालकों की बुद्धिमापक परीक्षाएँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं। एक में लिखित प्रश्न और उनके उत्तर होते हैं और दूसरे में कुछ काम करना पड़ता है। पढ़े लिखे बालकों की बुद्धि की जाँच पहले प्रकार की परीक्षा-विधि से भली भाँति होती है और अपढ़ बालकों की परीक्षा दूसरे प्रकार की रीति से।

बिने महाशय की परीक्षा-विधि

आधुनिक बुद्धि-मापक परीक्षा-विधि के आविष्कारक फ्रांस के एक मनोवैज्ञानिक डाक्टर अल्फ्रेड बिने महाशय थे। उन्हें पेरिस में पढ़नेवाले बालकों में मंद बुद्धि के बालकों का पता लगाना था। अल्फ्रेड बिने महाशय ने विभिन्न अवस्था के बालकों के लिये पाँच प्रश्न बनाए। इन प्रश्नों की कठिनाई उन बालकों की अवस्था के अनुसार थी। इन प्रश्नों के चुनने में यह ध्यान रखा गया था कि उन्हें औसत बालक हल कर सकें। इसे ठीक-ठीक जानने के लिये वे प्रश्न हजारों बालकों को दिए गए। जो प्रश्न ७५ प्रतिशत किसी विशेष अवस्था के बालक हल कर सके उसे उस अवस्था के बालक के उपयुक्तसमझा गया।

इसी प्रकार तीन वर्ष की अवस्था से लेकर सोलह वर्ष की अवस्था के बालकों के लिये प्रश्न बनाए गए। जो बालक अपनी अवस्था के सभी प्रश्नों के ठीक ठीक उत्तर दे देता था उसे सामान्य बालक समझा जाता था और यदि वह अपनी अवस्था के प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं दे पाता था तो उसे मंद बुद्धि समझा जाता था। फिर उसे एक वर्ष कम अवस्था के बालकों वाले प्रश्न दिए जाते थे। यदि वह इन प्रश्नों को ठीक तरह से कर लेता था तो उसे बुद्धि में एक वर्ष पिछड़ा हुआ बालक समझा जाता था। जो बालक अपनी अवस्था के सभी प्रश्नों को हलकर लेता था और एक या दो साल आगे के प्रश्न भी कर लेता था उसे उतनी ही तीव्र बुद्धि का बालक माना जाता था।

विलियम स्टर्न महाशय ने अल्फ्रेड बिने के बुद्धिमाप के परीक्षाफल के कहने में एक मौलिक सुधार कर दिया। किसी बालक की बुद्धि की परीक्षा के फल को अब सामान्य बुद्धि अथवा एक या

दो साल पिछड़ी अथवा आगे बढ़ी न कहकर उसे बुद्धि-उपलब्धि के रूप में प्रकाशित किया जाता है। यह बुद्धि-उपलब्धि बालक की मानसिक और वास्तविक आयु का अनुपात दर्शाता है। बालक की आयु उतनी मानी जाती है जितनी आयु के प्रश्नों को वह हल कर सकता है और वास्तविक आयु जन्म तिथि से जानी जाती है। मान लीजिए कोई बालक ५ वर्ष का है और वह पाँच वर्ष के बालकों के लिये बने सभी प्रश्नों को हल कर लेता है पर आगे की आयु के बालकों के प्रश्नों को हल नहीं कर सकता तो उसकी मानसिक उपलब्धि निम्नलिखित रीति से निकाली जायगी

$$\text{बुद्धि-उपलब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} = \frac{५}{५} = १.$$

यहाँ १ अंक सामान्य बुद्धि को दर्शाता है। एक से कम न्यून बुद्धि को और १ से अधिक प्रखर बुद्धि को दर्शाता है। इस अंक में १०० का गुणा कर दिया जाता है इस प्रकार १०० सामान्य बुद्धि का सूचक अंक है। इससे नीचे के अंक न्यून बुद्धि के सूचक हैं।

मान लीजिए उपर्युक्त पाँच वर्ष का बालक अपनी आयु के बालकों के प्रश्न को नहीं कर पाता पर ४ वर्ष के बालकों के प्रश्न को कर लेता है तो उसकी बुद्धि-उपलब्धि निम्नलिखित होगी—

$$\text{बुद्धि-उपलब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

$$= \frac{४}{५} \times १०० = ८०$$

उक्त बालक की बुद्धि उपलब्धि ८० हुई। इसी प्रकार जिस बालक की मानसिक आयु १२ है और वास्तविक आयु १० है उसकी बुद्धि उपलब्धि $\frac{१२}{१०} \times १०० =$ अर्थात् १२० होगी।

बुद्धि की जाँच के अनुसार पाई गई विभिन्न बुद्धि-उपलब्धि के बालकों का निम्नलिखित रीति से विश्लेषण किया गया है।

प्रकार	बुद्धि-उपलब्धि
(१) प्रतिभावान	१४० और उससे ऊपर
(२) प्रखर बुद्धि	१२० से १४० तक
(३) तीव्र बुद्धि	११० से १२० तक
(४) सामान्य बुद्धि	६० से ११० तक
(५) मंद बुद्धि	८० से ६० तक
(६) निर्बल बुद्धि	७० से ८० तक
(७) मूर्ख	३० से ५० तक
(८) मूढ	२५ से ५० तक
(६) जड	० से २५ तक

विने महाशय के प्रश्नों में हेर फेर करके तथा उनकी संख्या बढ़ा कर स्पेन महाशय ने इंगलैंड के लिये परीक्षा-पत्र बनाए हैं। विभिन्न अवस्था के बालकों के लिये टरमेन महाशय के बनाए परीक्षा-प्रश्न नीचे दिए गए हैं।

टरमेन का बुद्धिमापक परीक्षा-पत्र

३ वर्ष के लिये

१—शरीर के अवयवों की तरफ इशारा करके पूछना (अपनी नाक, कान, आँख बताओ ?)

२—परिचित वस्तुओं के नाम पूछना (दीवाल घड़ी, तश्तरी आदि, यह क्या है ?)

३—किसी चित्र को दिखाकर उसमें की तीन वस्तुओं के नाम पूछना।

४—लिंग-भेद पूछना (तुम लड़की हो अथवा लड़का ?)

५—नाम पूछना (तुम्हारा नाम क्या है ?)

६—अपने कहे छः या सात पद के वाक्य को अनुकरण के रूप में दुहरवाना (क्या रामू अच्छी अच्छी मिठाई खायगा ?)

४ वर्ष के लिये

१—भिन्न-भिन्न लंबाइयों की तुलना करवाना (कौन बड़ा है ?)

२—आकृति की पहिचान में भेद करवाना (एक वृत्त दिखाना और उसी आकृति को दूसरे चित्रों में ढूँढ़ना ?)

३—चार सिक्कों को गिनवाना

४—एक वर्ग की आकृति बनवाना।

५—व्यावहारिक प्रश्नों को पूछना (जब तुम थके हो, क्या करोगे ? तुम भूखे हो ? तुम्हें ठंड लगी है ?)

६—चार अंकों को दुहरवाना (अनुकरण के रूप में,)

५ वर्ष के लिये

१—दो भारों की तुलना करवाना (३ और १५ ग्राम में कौन भारी है ?)

२—रंगों का नाम पूछना (४ कागज-लाल, पीले, हरे नीले लेकर।)

३—सौंदर्य की परख करवाना (३ जोड़े चेहरे, जिनमें से प्रत्येक में एक बदसूरत हो और एक खूबसूरत—पूछना, कौन खूबसूरत है ?)

४—साधारण ६ वस्तुओं की परिभाषा पूछना (कुर्सी, घोड़ा गुड़िया आदि)

५—" धैर्य का खेल " करवाना (एक आयत बनवाना जो दो त्रिभुजों से दिखाया गया हो।)

६—तीन आज्ञाओं को एक साथ देकर ठीक से पूरा करवाना

(इसे टेबुल पर रख दो, दरवाजा बंद कर दो, मेरे पास ये किताबें लाओ ?)

६ वर्ष के लिये

१—दाएँ और बाएँ की पहिचान करवाना (अपना दायाँ हाथ दिखाओ) और बायाँ कान दिखाओ

२—चित्रों में मिटी हुई अथवा भूली हुई बातों को पूछना। बिना नाक का चेहरा अथवा बिना हाथ के मनुष्य का पूरा चित्र दिखाकर पूछना, इसमें क्या नहीं है ?)

३—१३ सिक्कों को गिनवाना

४—व्यावहारिक प्रश्न पूछना (अगर बरसात हो रही हो और तुम्हें स्कूल जाना हो तो क्या करोगे।

५—चालू सिक्कों का नाम पूछना

६—नकल के रूप में १६ से १८ खंडों के वाक्य दुहरवाना।

७ वर्ष के लिये

१—अँगुलियों की संख्या पूछना (पहले एक हाथ में कितनी अँगुली हैं फिर दूसरे में और फिर दोनों में मिलाकर।)

२—किसी चित्र को दिखाकर उसमें चित्रित क्रियाओं अथवा कार्यों का विवरण पूछना।

३—पाँच अंकों को दुहरवाना।

४—एक मामूली गाँठ बँधवाना (नकल के रूप में।)

५—पहले देखी हुई वस्तु के भेदों को पूछना (मक्खी और तितली में, पत्थर और अंडे में, लकड़ी और शीशे में भेद।

६—एक बहुभुज क्षेत्र की नकल करवाना।

ऊपर हमने ७ वर्ष की आयु तक के बालकों के लिये टरमेन के बनाए बुद्धिमापक परीक्षा के प्रश्न दिए हैं। इसी प्रकार

विभिन्न आयु के बालकों के लिये दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षा-पत्र बनाए हैं (इस प्रकार के परीक्षा-पत्र भारतवर्ष में भी बन रहे हैं। राय बहादुर पंडित लज्जाशंकर झा, डाक्टर राइस, डाक्टर वी० वी० कामत् महाशयों के प्रयास इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

बुद्धि के प्रकार— बुद्धि-मापक परीक्षा-पत्र दो प्रकार के होते हैं-एक वैयक्तिक और दूसरे सामूहिक। पहले प्रकार की परीक्षा में विभिन्न आयु के बालकों के लिये विभिन्न प्रश्न होते हैं। ये साधारणतः एक एक बालक को अलग अलग दिए जाते हैं। इस प्रकार की परीक्षा में बड़ा समय लगता है। पर बालक की परीक्षा भली प्रकार से हो जाती है।

सामूहिक परीक्षा बहुत से बालक एक ही साथ देते हैं। ये एक ही आयु के बालकों के लिये भी हो सकते हैं और भिन्न-भिन्न आयु के लिये भी।

भिन्न-भिन्न आयु के बालकों को जब एक ही प्रश्न पत्र दिया जाता है तो उनसे उस परीक्षा में अपनी आयु के अनुसार कम अथवा ज्यादा अंक पाने की आशा की जाती है। जिस प्रकार "आयु माप दंड" के अनुसार बने परीक्षा-पत्र को पहले से ही प्रामाणिक बना लेना पड़ता है; उसी प्रकार "बिंदु माप दंड" को भी पहले से ही प्रमाणिक बना लेना होता है। "बिंदुमाप दंड" के परीक्षा-पत्र को प्रमाणिक बनाने के लिये यह आवश्यक है, कि विभिन्न आयु के कई हजार बालकों की परीक्षा ली जाय और विभिन्न आयु के बालकों के औसत अंक बालक पावें। अथवा जो किसी विशेष अवस्था के बालक का औसत अंक हो उक्त उसे हमें उस आयु की सामान्य बुद्धि का प्रमाण मानना चाहिए।

मान लीजिए किसी परीक्षा-पत्र में कुल २०० अंक हैं।

इनमें से १२० अंक १४ साल के औसत बालक के आते हैं और १२० ही १४ साल के सब बालकों के आते हैं तो हमें १२० को सामान्य बुद्धि के बालक का अंक जानना चाहिए अर्थात् जो बालक १२० अंक पाएगा उसे १०० बुद्धि-उपलब्धि का बालक समझा जायगा। यदि १४ वर्ष का कोई बालक इससे अधिक अंक पाता है तो उसकी बुद्धि-उपलब्धि अधिक मानी जायगी और यदि वह कम अंक पाता है तो कम।

इस प्रकार की सामूहिक परीक्षा का प्रश्न पत्र तैयार करने की चेष्टा भारत वर्ष में श्री वंशगोपाल भिंगरन ने की है। उनके परीक्षा-पत्र के कुछ प्रश्न पुस्तक के अंत में दिए हुए हैं। ये बिंदुमाप दंड के आधार पर बनाए गए हैं। इस प्रकार के और भी परीक्षा-पत्रों की हमारे देश में आवश्यकता है।

तेईसवाँ परिच्छेद

बालक के विकास की अवस्थाएँ

मनोवैज्ञानिकों ने बालक के विकास की चार अवस्थाएँ मानी हैं—शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था। इन चारों अवस्थाओं में बालक के शारीरिक गठन, मानसिक स्थिति और व्यवहारों में इतना भेद होता है कि हम बालक को देखते ही यह निश्चय कर सकते है कि अमुक बालक किस अवस्था में है। इस विषय पर चित्त-विश्लेषण विज्ञान ने विशेष प्रकाश डाला है। चारों अवस्थाओं में एक प्रमुख भेद यह है कि प्रत्येक में प्रेम का विषय भिन्न-भिन्न होता है। बालक की मूल प्रवृत्तियाँ प्रत्येक अवस्था में विशेष प्रकार से कार्य करती हैं। इनके भेद हमें जानना आवश्यक है जिससे हम बालक के जीवन-विकास में उचित सहायता दे सकें। इस परिच्छेद में प्रौढ़ावस्था को छोड़ कर, जिससे पाठक परिचित हैं, शेष तीन अवस्थाओं के लक्षण दिखलाए जाएँगे।

शैशवावस्था

शारीरिक या मानसिक वृद्धि—पाँच या छः वर्ष की आयु तक बालक की शैशवावस्था रहती है। बालक की इस

अवस्था में तीन वर्ष तक बड़ी तीव्रता से शारीरिक वा मानसिक वृद्धि होती है। इस के बाद छः वर्ष तक फिर उतना वेग नहीं रहता। इस काल में बालक की वृद्धि स्थिरता प्राप्त करती है। यदि किसी बालक की शारीरिक वृद्धि ही हम तीन साल तक देखें तो हमें यह प्रतीत होगा कि बालक एक साथ ही पहले से दुगुना बढ़ जाता है। इतनी शीघ्रता से वृद्धि होना पीछे संभव नहीं। पहले तीन साल में बालक अपने आस-पास के अनेक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। अनेक वस्तुओं को तोड़-फोड़कर उनकी बनावट से परिचित होता है। उसे अपनी शक्ति का ज्ञान जितना इस काल में होता है उतना दूसरे काल में नहीं होता। अपनी ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेंद्रिय को वह इसी समय काम में लाना सीखता है। उसके स्नायुओं में परिपक्वता आती है। इसी काल में बालक चलना, बोलना, तथा लोगों को पहचानना सीखता है।

रचनात्मक प्रवृत्ति—मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक तीन और छः साल के बीच पहले के प्राप्त किए हुए ज्ञान को परिपक्व करता है जिससे वह फिर आगे वेग के साथ उन्नति कर सके। शैशवावस्था में बालक की तोड़ने-फोड़ने वा रचना की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र होती है। अतएव बालक को इस प्रकार के खिलौने देने चाहिए जिनसे वह अनेक प्रकार के पदार्थ बना सके। इस काल में बालक में सामाजिक भाव विकसित नहीं होता, अतएव बालक के प्रायः सभी खेल वैयक्तिक होते हैं।

भाषा विकास—बालक की शब्दों के उच्चारण की शक्ति परिमित होती है। पर हम उसकी इस काल की शब्दोच्चारण वा भाषा सीखने की शक्ति से यह अनुमान लगा सकते हैं कि बालक प्रतिभाशाली होगा अथवा नहीं। मंद बुद्धि वाला

बालक देर में उच्चारण करना सीखता है। उसकी भाषा सीखने की शक्ति उसकी बुद्धि की सूचक है। जिस बालक में भाषा सीखने की शक्ति कम होती है उसकी बुद्धि का विकास रुक जाता है। इससे भी यह निश्चित है कि शैशवावस्था में भाषा का शीघ्रता से सीखना भविष्य में बालक के बुद्धिमान होने का सूचक है।

काम वा प्रेम-भावना—चित्तविश्लेषक वैज्ञानिकों ने शिशु के प्रेम वा काम-भावना का भी अध्ययन किया है। उनके कथनानुसार यह काल आत्म-प्रेम का है। बालक अपने आप की क्रियाओं में ही इतना लगा रहता है कि उसके मन में दूसरे व्यक्ति से प्रेम करने के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता।

बाल्यावस्था

मानसिक उन्नति—बाल्यावस्था पाँच या छः वर्ष से बारह वर्ष तक रहती है। इस काल के प्रथम भाग में बालक बड़े वेग के साथ उन्नति करता है। यह उन्नति दश वर्ष की आयु तक होती है। इसके उपरांत फिर उन्नति को सुदृढ़ बनाने का काल आता है। कहा जाता है कि दस वर्ष के बालक में एक विचित्र सयानापन आ जाता है। वह छः वर्ष के बालक के समान असहाय नहीं होता, न उसमें किशोर बालक जैसी सहमने की भावना ही रहती। छः वर्ष के बालक और किशोर बालक, दोनों को ही संसार नवीनता और आश्चर्य से भरा दिखाई देता है; अतएव उन्हें सांसारिक व्यवहार में कठिनाइयाँ पड़ती हैं। ये कठिनाइयाँ दश वर्ष के बालक के सामने नहीं रहती। एक प्रकार से उसका जीवन प्रौढ़ जीवन है।

उत्सुकता—इस काल में बालक को बड़ी प्रबल उत्सुकता होती है। वह प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को जानना चाहता है। जहाँ कहीं वह जाता है, उसे हजारों नई वस्तुएँ देखने को मिलती हैं और वे उसका ध्यान आकर्षित करती हैं। जिन बातों की ओर वयस्क लोगों का ध्यान साधारणतः नहीं जाता उनकी ओर बालक का ध्यान आकर्षित होता है। अतएव बालक वयस्क लोगों से हजारों प्रश्न पूछता है जिनका उत्तर देते देते वे प्रायः थक जाते हैं।

बालक इस काल में बहिर्मुख रहता है; उसका मन सदा बाहर की चीजों से आकर्षित होता है। अतएव उसको ज्ञानवृद्धि इस काल में पर्याप्त रूप में हो जाती है।

अनुकरण—इस काल में बालकों की अनुकरण की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र होती है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर वे संसार के अनेक व्यवहार सीखते हैं। बालक के इस काल के खेलों में अनुकरण की प्रधानता होती है। हम इस विषय को अनुकरण के परिच्छेद में भली भाँति समझा चुके हैं, अतएव इस विषय को दुहराना आवश्यक नहीं।

सामाजिक भावनाएँ—इस काल में बालक के जीवन में सामाजिक भावनाओं का बीजारोपण होता है। शैशवावस्था में बालक अपने आपमें जितना मग्न रहता है उतना बाल्यावस्था में नहीं रहता। यदि बालक शैशवावस्था में दूसरों का साथ ढूँढ़ता है वह अपनी किसी इच्छापूर्ति के लिये ही ऐसा करता है। वह बूढ़ों का साथ अपने स्वार्थसाधन के लिये करता है। पर बाल्यकाल में बालक न तो बड़ों के पास रहना पसंद करता है और न वह अपने स्वार्थ में इतना मग्न रहता है कि दूसरों का साथ अपनी किसी इच्छापूर्ति के लिये ढूंढ़े। वह अपनी ही आयु

वाले बालकों का ही साथ ढूंढ़ता है और उनके प्रेम के लिये अपना स्वार्थ सहज में त्याग देता है।

वयस्क लोगों को यह आशा न करनी चाहिए कि बालक सदा उनके ऊपर ही निर्भर रहेगा तथा अपना सारा प्रेम उन्हें ही दे देगा। अब वह अपने साथियों का ध्यान पहले रखेगा। घर खाने पीने भर की जगह है, पर बालक का वास्तविक जीवन घर के बाहर है।

नैतिकता—बालक के जीवन में इस काल में बालसमाज के नियम पालन करने की प्रबल भावना रहती है। वह अपने समाज में प्रशंसित होने का पूरा प्रयत्न करता है। अतएव उसके जीवन में इस काल में नैतिकता की नींव पड़ती है जो किशोरा-वस्था में दृढ़ होती है।

बालक अपने दल के नियम पालन करने अथवा उससे प्रशंसा पाने के लिये कभी-कभी अनुचित कार्य भी करता है। यदि बालक अपने शिक्षक से झूठ बोलने पर अपने समाज का सम्मान नहीं खोता तो वह झूठ बोलने से नहीं हिचकिचाता। शिक्षक जब किसी बालक को अनुचित व्यवहार करते देखे तो उसे उस बालक के समाज की खोज करनी चाहिए। यदि बालक के समाज के भाव शिक्षक के प्रति आदरपूर्ण हो जायँ तो कदापि बालक दुर्व्य-वहार न करेगा। शिक्षक बालकों के समाज को निश्चय करा दे कि वह उनका शत्रु नहीं है, वह उनकी सब प्रकार से सहायता करने के लिये तत्पर है। शिक्षक को चाहिए कि वह स्वयं बालकों के दल बनाए जिसमें रहकर उनकी सामाजिक भावनाएँ भली भाँति विकास पा सकें। शेरबचों का दल इसी प्रकार का दल है। इसी तरह और भी दूसरे प्रकार के दल हैं। इस प्रकार के दल बनाने में शिक्षक को सहायता देनी चाहिए।

भाषा-ज्ञान—बालक का भाषा-ज्ञान इस काल में वेग के साथ बढ़ता है। बालक अपने साथियों से जितना बोलना-चालना सीखता है उतना वयस्क लोगों से नहीं सीखता। इस काल में बालक अपनी आयु के बालकों के साथ अधिक समय व्यतीत करता है। उसे आत्म-प्रकाशन की आवश्यकता पड़ती है, अतएव वह अपना भाषा-ज्ञान बढ़ाता और शब्दों के उचित प्रयोग सीखता है। इस काल में बालकों को कहानियाँ सुनाना और उनसे कहानियाँ कहलाना भाषा-ज्ञान की वृद्धि के लिये बहुत आवश्यक है।

शिक्षाक्रम—बालक को इस काल में अनेक प्रकार के ऐसे काम करने को देना चाहिए जिनमें उसे अपनी ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय दोनों से काम लेने की आवश्यकता पड़े। इस काल में बालक स्वभावतः चंचल होता है। इस चंचलता का दमन न कर उसे बालक की शिक्षा के कार्य में लगाना चाहिए। पर इस बात पर ध्यान रखा जाय कि किसी प्रकार का कार्य बालक से अधिक देर तक न कराया जाय। आध घंटे से अधिक समय तक एक ही विषय कदापि न पढ़ाना चाहिए। हाँ, यदि किसी प्रकार के शारिरिक कार्य में बालक की विशेष रुचि हो तो उसमें उसे अधिक समय तक भी लगाया जा सकता है।

काम वा प्रेम-भावना—बाल्यावस्था में बालक का प्रेम अपने ऊपर न रहकर आस पास के दूसरे व्यक्तियों के प्रति होता है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार बालकों का प्रेम माता-पिता की ओर जाता है। एक बालिका पिता से प्रेम करती है और बालक माता से। पर धीरे-धीरे यह प्रेम अपने साथ खेलने वाले बालकों के प्रति हो जाता है। इस प्रेम के विकास में ही वास्तव में बालक के जीवन का विकास है।

किशोरावस्था

बाल्यावस्था के उपरांत किशोरावस्था आती है। इसका समय १२ वर्ष से लेकर १८ वर्ष की आयु तक माना गया है। यह अवस्था मानव-जीवन की बड़ी महत्त्वपूर्ण अवस्था है। जिस प्रकार ऋतुओं का राजा बसंत माना जाता है उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक किशोरावस्था को जीवन की सब अवस्थाओं का राजा मानते हैं। इस काल में बालक के शरीर और मन की विशेष प्रकार से वृद्धि होती है और उसे अपनी शक्तियों का ज्ञान भी इसी काल में होता है। चरित्रगठन का प्रारंभ वास्तव में इसी काल में होता है। सामाजिक और नैतिक भावनाएँ तथा प्रेम की परिपक्वता इसी काल में होती है। इसलिये हमें इस अवस्था को भली भाँति जानना आवश्यक है। जिस ओर जीवन का प्रवाह इस काल में बह जाता है वह दिशा जीवन भर अपरिवर्तित रहती है। यहाँ अब हम किशोर बालक की शारिरिक और मानसिक विशेषताओं पर विचार करेंगे।

शरीर-गठन—किशोरावस्था के आते ही बालक की शारीरिक वृद्धि विशेष रूप से होती है। शरीर के अंग दृढ़ होते हैं और बालक में अनेक प्रकार के शारीरिक परिश्रम करने की योग्यता बढ़ती है। उसकी कर्मेंद्रियों के ऊपर उसका पूरा अधिकार रहता है। उसका शरीर देखने में सुंदर होता है। वह अब अपने शरीर को सुंदर बनाने में रुचि भी रखता है। समाज में आते समय वह जहाँ तक बन पड़ता है अपने को सँभालकर और सजाकर आता है। इस काल में मुखाकृति से स्त्री पुरुष के भेद प्रदर्शित होने लगते हैं। बालक की वाणी में भी ये भेद स्पष्ट हो जाते हैं। लड़की की बोली में विशेष कोमलता आ जाती है

और लड़के की वाणी में कुछ कठोरता और कर्कशपन आने लगता है।

कल्पना।—किशोर बालक का जीवन कल्पनामय होता है। इस काल की कल्पनाएँ बालक के अनेक प्रकार के संवेगों से उत्तेजित होने के कारण बड़ी सजीव होती हैं। कोई कोई बालक अपनी कल्पना के सामने वास्तविक संसार को भूल जाते हैं। जो कमी उसे वास्तविक संसार में प्रतीत होती है उसे वह अपनी कल्पनाओं से पूर्ण कर लेता है। कल्पना का जादू दुर्बल को सबल, रंक को राजा और निर्धन को धनी बना देता है। प्रत्येक किशोर बालक एक कवि होता है और जिस प्रकार कवि वास्तविकता के प्रतिबंधों को नहीं मानता उसी प्रकार किशोर बालक भी वास्तविकता की अवहेलना करता है।

किशोर बालक का हृदय कलुषित नहीं रहता। उसमें इतनी उदारता होती है कि वह अपने प्रेमी के लिये सब कुछ समर्पण करने को तैयार रहता है। जो स्वार्थत्याग इस काल में हो सकता है वह पीछे नहीं होता। बालक इस समय आदर्श जगत में रहता है जिसका प्रत्येक निवासी देवता है। वह जानता है कि जस प्रकार उसका हृदय स्वच्छ और निःस्वार्थ है उसी प्रकार संसार के सभी मनुष्यों का है।

इस प्रकार की कल्पना में रहने के कारण कितने ही बालक अपना भावी जीवन दुःखमय बना लेते हैं। कल्पना का होना जीवन-विकास के लिये अति आवश्यक है। पर जब उसकी मात्रा अत्यधिक हो जाती है तो मनुष्य के जीवन को दुःखमय बना देती है। कितने ही कवियों का जीवन इसलिये दुःखमय रहा कि वे अपने आप को वास्तविकता के नीरस संसार में सुखी न बना सके। कल्पना के बाहर आते ही उन्हें विकर्षण करने वाले दृश्य दिखाई पड़े। प्रसिद्ध अँग्रेज कवि शैली का जीवन इसीलिये

दुःखी हुआ कि संसार से उन्हें वह आदर्श प्रेम न मिला जिसकी प्रतिमा उन्होंने अपनी कल्पना में बनाई थी।

अभिभावकों और शिक्षकों का कर्तव्य है कि किशोर बालक को सदा कल्पना में ही विचरण न करने दें। उसे वास्तविकता से परिचित कराएँ। खेल, कूद, घूमने आदि के अवसर बालकों को पर्याप्त मिलने चाहिएँ। तैरना, दौड़ना, घोड़े की सवारी करना, कसरत करना आदि बहुत लाभदायक है।

बालचर-शिक्षा और भ्रमण इस अवस्था के लिये अत्यंत लाभदायक हैं। बालचर-शिक्षा द्वारा बालकों का सांसारिक ज्ञान बढ़ाया जा सकता है। उन्हें कल्पना के जगत् से निकालकर वास्तविकता में लाया जाता है। बालक की जो शक्ति मनोराज्य में व्यर्थ खर्च होती है उसे समाजोपयोगी कार्यों में लगाना चाहिए। इसके द्वारा बालक की व्यवहारात्मक कल्पना की वृद्धि होती है।

विचरण की प्रवृत्ति—किशोर बालकों में बाहर घूमने की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र होती है। यह प्रवृत्ति काल्पनिक जगत में विचरण करने का बाह्यरूप है। स्टेनले हाल महाशय इस विषय में लिखते हैं कि किशोरावस्था के प्रारंभ में भ्रमण की प्रवृत्ति जाग उठती है। जीवन के बसंत में चंचलता का साम्राज्य छा जाता है। घर संकुचित और उदास प्रतीत होने लगता है और उसमें रहना असह्य हो जाता है। बालक किसी भी भ्रमण करनेवाले व्यक्ति को देखकर घर से भाग निकलना चाहता है। स्कूलों के साधारण कार्यक्रम से उसका मन ऊब जाता है और उसे नया संसार देखने के लिये तीव्र पिपासा होती है।

यदि हम बालक की इस प्रवृत्ति की अवहेलना कर दें तो उसका परिणाम बालक के जीवन विकास के लिये भला नहीं

होगा। बालक की प्रवृत्ति आवारा बनने की होती है। हम देखते हैं कि कई व्यक्ति अपने जीवन का पेशा ही घूमना बना लेते हैं, उन्हें एक जगह बैठना अच्छा ही नहीं लगता। यह किशोरावस्था की घूमने प्रवृत्ति के दमन का दुष्परिणाम है।

इस काल की शिक्षा का एक मुख्य अंग देशाटन होना चाहिए। प्राचीन भारतीय शिक्षापद्धति में इसे प्रमुख स्थान दिया गया था। जब रामचंद्र जी सोलह वर्ष की अवस्था के हुए तो वे इस देश के भिन्न भिन्न प्रांतों में तीर्थ यात्रा करने गए। इस तीर्थ-यात्रा के फलस्वरूप जो उनका विचार-विकास हुआ उसीका परिणाम योगवाशिष्ठ रामायण है।

यूरप में लाक महाशय ने भी देशाटन की उपयोगिता बताई है। जर्मन इटली और इंग्लैंड के बालक तो स्काउटिंग के लिये अनेक स्थानों में जाते हैं। शिक्षक किसी किसी समय इन बालकों के साथ रहते हैं और उन्हें इतिहास, भूगोल, इत्यादि विषयों का ज्ञान रास्ते में देते जाते हैं। भारतवर्ष के बालक नक्शे से ही भूगोल पढ़ते हैं, वास्तविक दुनियाँ से परिचित ही नहीं होते। वास्तविक भूगोल-ज्ञान प्राप्त करने के लिये बालकों को स्वयं अनेक स्थानों पर जाना चाहिए और जो स्थान वे देखें उनके नक्शे बनाना तथा उनका वर्णन लिखना चाहिए।

सामाजिक भावनाओं का विकास—इस काल में बालक की सामाजिक भावनाएँ दृढ़ होती हैं उसमें आत्मोन्नति और आत्मप्रतिष्ठा की भावनाएँ आने लगती हैं। बालक समाज द्वारा अपनी स्तुति के लिये बहुत उत्सुक रहता है और अपने बंधुओं की प्रशंसा प्राप्त करने के लिये असंभव कार्य करने को तैयार हो जाता है। देशभक्ति की भावना इसी समय जागृत होती है। अपने देश के लिये बालक अपना सर्वस्व त्याग करने के लिये

तैयार रहता है। देशभक्ति समाज-भावना का एक रूप है। यदि बालक स्वस्थ और स्वतंत्र वातावरण में रखा जाय तो वह स्वभावतः ही देशभक्त होगा। वास्तव में देशभक्ति आत्म-प्रकाशन और यश प्राप्त करने का एक मार्ग है। अतएव किशोर बालक के हृदय में देशभक्ति सहज में ही प्रकाशित होती है। शिक्षकों का कर्तव्य है कि इस स्थायी भाव को दृढ़ करने का प्रयत्न करें। बालकों को ऐसे अनेक प्रकार के कार्यों में लगाएँ जिनसे उनका समाज-सेवा का भाव प्रबल हो।

निर्देश का प्रभाव—निर्देश के परिच्छेद में बताया गया है कि इस का प्रभाव बालक के जीवन पर विचार-विकास के साथ साथ पड़ने लगता हैं। किशोरावस्था के प्रथम काल में निर्देश का बड़ा महत्व रहता है। बालक का व्यक्तित्व इस समय तक सुसंगठित नहीं हो पाता, अतएव वह वातावरण में फैले हुए विचारों में पड़कर इधर उधर उड़ता रहता है। जो कुछ उसे सुझाया जाता है वह उसे ही सत्य मानने लगता है और उसीके अनुसार अनेक प्रकार के कार्य करने लगता है। यदि बालक का वातावरण दूषित हुआ तो वह अवश्य दुराचारी हो जायगा। वास्तव में हमारी अनेक प्रकार की नैतिक भावनाएँ दूसरे के वे निर्देशमात्र हैं जो हमें किशोरावस्था में मिले थे।

बालक इस काल में सामूहिक निर्देश से अधिक प्रभावित होता है। साथ के बालकों के सदृश वह अपने विचार और क्रियाएँ बनाने की पूरी चेष्टा करता है। अब यदि हम बालक का नियंत्रण करना चाहें तो हम उसके समाज को प्रभावित करके ही कर सकते हैं। हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि बालक को इस काल में शारीरिक दंड नहीं देना चाहिए। सोलह वर्ष की अवस्था प्राप्त होने पर पिता को अपने पुत्र को बराबरी का संमान देनाचाहिए।

लालयेत्पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रमित्रवदाचरेत् ॥

अर्थात् किशोरावस्था में बालक दंड से प्रभावित नहीं होता। उसके ऊपर समाज और सामूहिक निर्देश का प्रभाव पड़ता है।

शिक्षकों को चाहिए कि किशोर बालक को कदापि उसके समाज के सामने अपमानित न करें। कितने शिक्षक क्रुद्ध अवस्था में बालकों को अपशब्द कह बैठते हैं। यह उचित नहीं। इसी तरह किसी बालक को किसी अनादर-सूचक नाम से पुकारना बुरा है। बालक का आत्मसंमान सुरक्षित रहना चाहिए। जो बालक अपने समाज में किसी कारण से संमान खो देता है उसमें सुधार करना असंभव है। वास्तव में कोई किसी का सुधार नहीं करता, आत्मा ही आत्मा का सुधार करती है[1]।

बालक की आत्मा को बली बनाना ही शिक्षकों का परम कर्तव्य है। इसके लिये बालक के प्रति शुभकामनाएँ रखना, उनसे प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करना और उन्हें सदा भले निर्देश देना आवश्यक है।

बुद्धिविकास—इस काल में बालक के विचारों में परिपक्वता आती है। बालक में विवेचना करने की शक्ति बढ़ती है। बुद्धि माप से पता चला है कि मनुष्य की बुद्धि की वृद्धि साधारणतः सोलह वर्ष तक होती है। उसकी रुचियाँ इस काल में ही दृढ़ता को प्राप्त होती हैं। एक तरह से मनुष्य के भावी स्वभाव का निर्माण इसी काल में होता है। इसी काल में उसके जीवन के व्यवसाय

---

१ उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

निर्धारित होते हैं। किशोरावस्था के बाद कोई नया काम सीखना वा नए व्यवसाय में रुचि प्राप्त करना अत्यंत कठिन होता है। अतएव शिक्षाक्रम में इस बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि बालकों की शिक्षा उनकी रुचि और योग्यता के अनुसार हो। इस अवस्था में बालकों की बुद्धि और रुचि में भिन्नता स्पष्ट होती है। इसे जानकर हमें बालकों को उचित कार्य में लगाना चाहिए।

इस काल की शिक्षा के कार्यक्रम में विचार-शक्ति की वृद्धि को ध्यान में रखना आवश्यक है। गणित, व्याकरण और पदार्थ-विज्ञान इस दृष्टि से उपयुक्त हैं। साथ ही साथ हमें रुचिभेद को ध्यान में रखना चाहिए। जो बालक कला में रुचि रखते हैं उन्हें उसकी विशेष रूप से शिक्षा देनी चाहिए; जिनकी रुचि हाथ के काम करने में हो उन्हें उस ओर प्रवृत्त करना चाहिए।

किशोर बालक के संवेग—ऊपर कहा जा चुका है कि किशोर बालक के संवेग बहुत प्रबल होते हैं। हमें इनका सदुपयोग करना चाहिए। इस काल में गाना गाने में बालकों की रुचि अधिक होती है, अतएव बालकों को सुंदर सुंदर अनेक गीत सिखाए जाने चाहिएँ। यदि बालकों को सुंदर गीत न सिखाए जायँगे तो वे अपने आप बुरे गीत सीख लेंगे। गीतों के द्वारा उचित स्थायी भाव बालक के हृदय में पैदा किए जा सकते हैं।

बालक की सौंदर्योपासना इस काल में बहुत प्रबल होती है। कला की ओर बालक की रुचि बढ़ाने में इसका उपयोग करना चाहिए। प्रत्येक बालक की चित्रकारी और संगीत में कुछ न कुछ रुचि रखना आवश्यक है। इससे भावी जीवन सरस होता है।

प्रेम अथवा काम-भावना—बालक की प्रेमभावना इस काल में बड़ी प्रबल होती है। इसका आधार कामवासना है। इसी के कारण बालक स्वभाव में चंचल, वेष-भूषा में सौंदर्यप्रिय और व्यवहार में साहित्यिक रहता है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि किशोरावस्था में कामवासना की सब अवस्थाएँ फिर एक एक कर पार होती हैं। बालक पहले पहल अपने आप को प्यार करता है, फिर स्ववर्गीय बालकों के प्रेम में मग्न रहता है. इसके पश्चात् उसके हृदय में दूसरे वर्ग के बालकों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। अतएव किशोर बालक के जीवन में काम-भावना की किसी प्रकार की चेष्टा प्रदर्शित होना अस्वाभाविक नहीं है। अभिभावकों को इससे घबड़ाना न चाहिए। साथ ही साथ उन्हें सदा सचेत रहना चाहिए। इस काल की बालक की अनेक काम-चेष्टाएँ उसके भावी जीवन को दुखी बना देती हैं। बालक कामवासना संबंधी अनेक बातें अपने साथियों से तेरह और सोलह वर्ष के बीच सीख लेता है। इनसे उसे अनभिज्ञ रखना न संभव ही है और न उसके जीवन विकास के लिये उपयोगी है। विकसित जीवन अनेक प्रकार की भूलों का परिणाम है। जो बालक नीचे की सीढ़ी पार करके ऊपर नहीं जाता वह वास्तविक आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पाता। बालक अपने साथियों से अनेक प्रकार की बुराइयाँ सीखता है पर अनेक प्रकार की भलाइयाँ भी उन्हीं से सीखता है।

काम-भावना संबंधी शिक्षा—अभिभावक यदि सचेत रहें तो बालकों को वे अनेक बुराइयों से बचा सकते हैं। यदि हमारी शिक्षा-प्रणाली ठीक हो तो बालक के जीवन की ऐसी अनेक समस्याएँ उत्पन्न ही न हों जिनके कारण उसका जीवन दुःखमय हो जाता है। इसके लिये हमें बालक की कामवासना

उत्तेजित करनेवाली बातों को जानना चाहिए तथा काम-प्रवृत्ति की शक्ति को उचित मार्ग पर लगाना चाहिए।

स्टेनले हाल महाशय ने इस विषय में विशेष अध्ययन किया है। उनके कथनानुसार कामप्रवृत्ति को उत्तेजित करनेवाली बातों को दो विभागों में बाँटा जा सकता है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक कामोत्तेजक कारण निम्नलिखित हैं:—

अनुचित वेश भूषा, गरिष्ट भोजन, अजीर्ण, अस्वच्छता, अधिक देर तक बैठे रहना, अधिक देर तक खड़े रहना, पाँव के ऊपर पाँव रखकर बैठना, अधिक देर में सोकर उठना, बच्चों को पुचकारना, बच्चों को थपथपाना आदि।

मानसिक कारणों में, उपन्यासादि का पढ़ना, सिनेमा देखना, नाटक देखना, अश्लील चित्र देखना आदि। कोकेन, अफीम आदि नशीली वस्तुओं का सेवन भी मस्तिष्क को काम-वासना की ओर उत्तेजित करता है। इसी प्रकार सुगंधित तैलादि का धारण, अधिक भोजन, मादक पदार्थ, आदि भी चित्त को काम-प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करते हैं। अतः अध्यापक तथा अभिभावक का कर्तव्य है कि बालक को उक्त विषयों से बचाते रहें।

कामशास्त्र संबंधी उपदेश—कई एक विद्वानों का मत है कि बालकों को कामशास्त्र संबंधी उपदेश देने से उनका लाभ होगा। पर हमारे विचार में कामशास्त्र संबंधी उपदेश में शिक्षक को सावधान तथा सतर्क रहना चाहिए। अदूरदर्शी अल्पज्ञ मनुष्य के उपदेश से लाभ की जगह हानि की अधिक संभावना है। हमारे विचार से सबसे उत्तम रीति प्रासंगिक वार्तालाप की है। बालक का ध्यान सहसा कामशास्त्र की ओर आकर्षित नहीं करना चाहिए। पर आवश्यकता होने पर, उसका प्रकरण आने पर, उसे छोड़ना भी न चाहिए, प्रत्युत संयत भाव

से उसका यथेष्ट उपदेश देना चाहिए। बालक को कामशास्त्र की पुस्तक पढ़ने के लिये देना उचित नहीं। कामशास्त्र की पुस्तकें पढ़ने से बालक शारीरिक वा मानसिक पतन से बच नहीं सकता, प्रत्युत् उधर अधिक प्रवृत्त हो सकता है। ये पुस्तकें तो अध्यापकों के लिये उपयोगी हैं। जिससे वे उन्हें पढ़कर बालकों के कल्याण के लिये उपयोग में लाएँ।

कामविलयन—कामविलयन ही इस प्रकार की बुराई दूर करने का एकमात्र उत्तम साधन है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ शक्ति धारण करता है और जैसे जैसे वह प्रकृति से खाद्य सामग्री ग्रहण करता है और उसका शरीर बढ़ता है उसी अनुपात में शक्ति में भी परिवर्तन होता है। शक्ति भी बढ़ती है, और यदि उसका सदुपयोग न किया जाय तो वह मार्गांतरित होकर अनेक अनर्थों का कारण हो जाती है। अतः यह आवश्यक है कि इस शक्ति का उपयोग ऐसे कार्यों में किया जाय जो शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी हों। यह शक्ति शारीरिक परिश्रम, व्यायाम, खेल-कूद तथा सामाजिक सेवा आदि ऐसे कामों में, जिनमें शारीरिक बल की आवश्यकता हो, लगाई जानी चाहिए। जब बालक की शक्ति इस प्रकार इन सब कार्यों में लगा दी जाती है तो काम-वासना की प्रवृत्ति स्वतः मंद हो जाती है।

रूस के विद्यालयों में इस प्रकार के नियमों का उपयोग किया गया है। वहाँ शिक्षाक्रम तीन विभागों में विभक्त किया गया है—प्रकृति, परिश्रम और समाज। वहाँ छात्रों में क्रियात्मक और ज्ञानात्मक दोनों योग्यताओं का संपादन कराया गया है। परिश्रम वहाँ के स्कूलों का एक मुख्य ध्येय है। शारीरिक परिश्रम तथा जीविकोपार्जन संबंधी शिक्षा बालक को विद्यालय में तथा उसके बाहर स्वावलंबी बनाती है। इसके अतिरिक्त, शारीरिक

परिश्रम बालक को स्वस्थ और सदाचारी बनाए रहता है'[1] ।

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि देश का तथा जाति का कल्याण बालकों की भावना के दमन से नहीं होगा प्रत्युत् भावना के मार्गांतरित करने से ही होगा। ऐसा करने से बुरे से बुरा व्यक्ति भी उत्तम बनकर देशसेवा एवं जातिसेवा में लग सकता है।

जिस वस्तु या भावना को हम बुरी समझते हैं उसमें भी उत्तमता छिपी हुई रहती है। हमारा कर्तव्य है कि उस बुराई में से भी भलाई को ढूँढ़ निकालें। हम बालकों की उत्तम सेवा तभी कर सकते हैं जब हम उन्हें स्वतः उनके विकास की ओर अग्रसर करें और सदा आत्मविकास के लिये उत्साहित करते रहें। तभी वे आनंदित और सुखी रह सकते हैं।

---

१ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि सहशिक्षा से भी काम-प्रवृत्ति कुमार्ग में जाने से रोकी जा सकती है। अनेक प्रयोगों से वहाँ के विद्वानों ने देखा है कि सहशिक्षा से आचार में कोई खराबी नहीं आती। पिंकविच का कहना है कि बालक बालिकाओं के सहाध्ययन से उन्हें परस्पर एक दूसरे के जीवन-वृत्तांतों का ज्ञान होता है और एक दूसरे के प्रति कुतूहल-पूर्ण दृष्टि दूर हो जाती है। जहाँ बालक-बालिकाएँ पृथक् पृथक् रखी जाती हैं वहाँ वे एक दूसरे के जीवन को कुतूहल से देखती हैं।

हिंदुस्तान में बालक बालिकाएँ सदा ही एक दूसरे से पृथक् रहती चली आई हैं, अतः सहसा सहाध्ययन अवश्य हानिकर हो सकता है। किंतु बालक बालिकाओं का वाद-विवाद हिंदुस्तान में भी शुभसूचक सिद्ध हुआ है। प्राचीन समय में ऐसे वाद-विवाद होते थे; आजकल भी ऐसा होना आवश्यक है।

परिशिष्ट

[१]

बुद्धि-मापक परीक्षा

श्री वंशगोपाल झिंगरन रचित

प्रश्नों के नमूने

१. प्रेम का उलटा कौन शब्द है ?

१ समानता, २ क्रोध, ३ *घृणा*, ४ अजीब, ५ प्रेमी। ( )

२. यदि तीन कलमों का दाम ५ पैसे हो तो ५० पैसे में कितने कलमें आयेंगी। ( )

३. नीचे लिखी चीजों में से मनुष्य के शरीर में क्या चीज हमेशा नहीं रहती ?

१ हड्डियाँ, २ दिल, ३ *दाँत*, ४ नसें, ५ फेफड़े। ( )

४. अगर नीचे लिखे शब्दों को इस तरह मिलाकर रखें कि शुद्ध वाक्य बन जाय तो उस वाक्य के पहले शब्द का पहला अक्षर क्या होगा। उसे कोष्ठक में लिखो।

परीक्षा बुद्धि विद्यार्थियों की चुकी है *हजारों*। ( )

५. 'प्रभाव' शब्द का वही अर्थ है जो—

१ कारण, २ फल, ३ परिवर्तन, ४ उत्तर, ५ *असर* का है। ( )

६. सोने की कीमत चाँदी से ज्यादा होती है क्योंकि वह—

१ अधिक भारी होता है, २ *अधिक सुंदर होता है*, ३ अधिक सख्त होता है। ४ अधिक पीला होता है, ५ अधिक नहीं मिलता है। ( )

७. बालक और स्त्री में वही संबंध है जो घोड़ी और—

१ बछड़े, २ बछेड़े, ३ मेमने, ४ लड़के, ५ पिल्ले में है। ( )

८. अगर सेब से भरे ५ बक्सों का वज़न २०० सेर हो और एक खाली बक्स ५ सेर का हो तो बताओ कुल सेब कितने सेर हैं ? ( )

९. सुडौल का उलटा कौन शब्द है ?
१ खुरखुरा, २ सुंदर, ३ दुखी, ४ भद्दा, ५ कमज़ोर । ( )

१०. आदमी की सच्ची जाँच उसकी किस चीज़ से की जाती है ?
१ कपड़ों, २ आवाज़ ३ धन, ४ रूप, ५ काम से । ( )

११. यहाँ का वहाँ से वही संबंध है जो इधर का—
१ जिधर, २ कहाँ, ३ उधर, ४ किधर, ५ जहाँ से । ( )

१२. पिता अपने पुत्र की अपेक्षा—
१ बुद्धिमान, २ मज़बूत, ३ धनवान, ४ लंबा, ५ अनुभवी होता है ।

परिशिष्ट

[२]

बड़ों के जानने योग्य कुछ बातें[1]

(१) माता-पिता और शिक्षक बालकों के लिये ऐसा वातावरण जुटाने में सहायक हो सकते हैं जिसमें उसका व्यक्तित्व दबे नहीं वरन् उसका पूरा-पूरा विकास हो सके।

(२) बालक एक व्यक्ति है; वह बड़ों का खिलौना नहीं है, न उनकी संपत्ति ही है। उसके साथ समझ और आदर का व्यवहार होना चाहिए।

(३) बालक माता-पिता का प्यार प्राप्त करके उसमें अपने आपको सुरक्षित महसूस करना चाहता है। जरूरत से ज्यादा प्यार स्वार्थपरता का द्योतक है; पर इसके मानी ये नहीं हैं कि अपना स्वाभाविक प्रेम भी प्रकट न किया जाय।

(४) बालक अपने मन में खूब समझता है कि माता-पिता उसे चाहते हैं या नहीं; प्यार करते हैं या नहीं। बालक के सामने हम जो कुछ करते हैं या कहते हैं उसे वह बचपन से ही समझने लगता है। इसलिये बालकों के बरताव और चरित्र का जिक्र उनकी मौजूदगी में किसी से न करना चाहिए।

(५) बड़ों को चाहिए कि न तो दूसरों के सामने बालकों की ज्यादा तारीफ ही करें और न उन्हें नीचा ही दिखावें।

(६) अनुचित और अत्यधिक प्यार से बच्चे बिगड़ जाते हैं और बड़े होने पर स्वार्थी और दुःखी व्यक्ति बनते हैं। हमारा प्यार स्वार्थमय न हो, समझदारी का हो।

---

१ 'बालहित' से उद्धृत होम एंड स्कूल कौंसिल अव ग्रेट ब्रिटेन के एक पर्चे का अनुवाद।

(७) अपमानजनक या नीचा दिखानेवाली सजा बहुत हानिकारक है। बार बार बच्चे के दोषों का जिक्र करना घातक है। समझ, नम्रता और अपने उदाहरण की ही अंत में जीत होती है। यदि किसी गलती पर बच्चे को कुछ कहना ही हो तो वह इस प्रकार कहा जाना चाहिए जिससे बच्चे और बड़ों के बीच में मनमुटाव न हो वरन् बच्चा यह महसूस करने लगे कि चलो अच्छा हुआ, बात साफ हो गई।

(८) बच्चे पर हुकूमत चलाने के बनिस्बत उसका दोस्त बनना अधिक अच्छा है। यह किसी उम्र में हो सकता है। यदि दोस्ती का रिश्ता नहीं है तो वह धीरे धीरे बनाया जा सकता है।

(९) जितना जल्दी हो बच्चे को अपना काम खुद करने का मौका देना चाहिए।

(१०) बालक बाहरी चीजों के बारे में जो कुछ कहता है वह बड़ों के विचार और शब्द हो सकते हैं। उसकी असलियत तो वह आंतरिक भावना है जिसका इन विचारों या शब्दों से कोई खास संबंध नहीं होता। वही खास महत्त्व की चीज है।

(११) बालक जो कुछ करता है अपनी भावना से प्रेरित होकर ही करता है। उसके कार्यों को देखकर उसकी भावना को समझा जा सकता है।

(१२) बालकों को जो कुछ कहा जाता है वह इतने महत्त्व का नहीं है जितना कहने का तरीका। कहने का तरीका और लहजा ठीक न हो तो उससे उनमें भय और संदेह पैदा हो सकता है।

(१३) प्रयोग और अनुभव के द्वारा चरित्र का विकास होता है। बालक को अन्वेषण का मौका देना चाहिए; गलतियों और जिज्ञासाओं के लिये उसे सजा देना ठीक नहीं; इसी तरह तो हम सब सीखते हैं।

(१४) सच्ची स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है, "मैं जो चाहूँ करूँ" या "तुम जो चाहो करो"। हमको बालक पर इतनी हुकूमत नहीं करनी

चाहिए कि उसमें खुद सोचने का माद्दा पैदा ही न हो; न इतनी आजादी देनी चाहिए कि वह उसी के सिर का बोझा बन जाय और उसमें खतरे और संदेह का भाव पैदा कर दे।

(१५) बालक आज्ञा क्यों नहीं मानता यह जानना जितना जरूरी है उतना ही यह जानना भी जरूरी है कि वह आज्ञा क्यों मानता है। संभव है वह बड़ों की शिक्षा को अच्छी समझता हो; परंतु अकसर देखा जाता है कि या तो बालक भय के कारण आज्ञाकारी बनता है या बड़ों से प्रशंसा प्राप्त करने के लिये या उनका प्रेम पाने के लिये।

(१६) बालक को धमकाकर उससे आज्ञा-पालन करवाना ठीक नहीं; खासकर यह कहकर कि—"मैं तुम्हें प्यार नहीं करूँगा।" उसके साथ सहयोग का बरताव ज्यों ज्यों बढ़ेगा "यह कर", "वह न कर" का भाव अपने आप कम हो जायगा। फिर तो किसी खास मौके पर "यह कर" "वह न कर" का उपयोग भी किया जा सकता है।

(१७) बालकों के साथ सदा हँसो पर उनपर कभी नहीं।

(१८) घर में या स्कूल में बालक बड़ों की परेशानी और उनके आपसी झगड़ों को फौरन ताड़ लेते हैं। बड़ों की परेशानी उनके मन में भी घर कर सकती है और उम्र भर उनको दुःखी बना सकती है। जिस बात को बालक समझते नहीं उससे वे अकसर डर जाते हैं। उनकी तो खुद की परेशानियाँ ही काफी होती हैं; फिर हम उनपर और क्यों लादें ?

(१९) बालक के भय-पर हँसना ठीक नहीं। उसमें कायरता की कोई बात नहीं होती। भय को दबाना नहीं वरन् उसको समझाना चाहिए क्योंकि सच्चा कारण जानने पर ही वह धीरे धीरे दूर हो सकता है।

(२०) बालक की हिम्मत बढ़ाने के लिये उसे उत्साहित करते रहना जरूरी है।

(२१) बड़ों के बरताव के कारण जो भय बच्चों के मन में घुस जाता है उसके कारण बड़े होने पर भी वे उनके साथ मित्रता का बरताव नहीं कर सकते।

(२२) माता-पिता को बालक के प्रश्नों का उत्तर देने में कभी टाल-मटोल नहीं करनी चाहिए। बच्चे की समझ और उम्र के अनुसार सही सही उत्तर देना बड़ा उपयोगी होता है।

(२३) प्रश्नों का उत्तर—खासकर लिंग संबंधी प्रश्नों का—उतना ही दीजिए जितना पूछा जाय। यदि कोई बच्चा प्रश्न पूछता न हो तो उसमें यह जिज्ञासा पैदा करने का यत्न करना चाहिए। यदि प्रश्नों के सही उत्तर देकर बच्चे का संतोष न किया गया तो वह दूसरे लोगों से पूछता फिरेगा और संभव है उसका नतीजा ठीक न हो।

(२४) माता-पिता को चाहिए कि बालकों के विकास में स्कूल का जो महत्त्वपूर्ण काम है उसे समझें और अध्यापकों को इस कार्य में अपना सहयोग दें।

(२५) अध्यापकों को समझना चाहिए कि बालक पर माता-पिता का प्रभाव उनके प्रभाव से अधिक गहरा होता है। बालक के हित के लिये यह आवश्यक है कि वे घर के सहयोग से काम करें।

शब्दावली

(List of Technical Terms)

अ

अंतर्दर्शन—Introspection.

अंतर द्वंद्व—Mental conflict.

अनुकरण—Imitation.

अनुकरणात्मक खेल—Imitative Play.

आध्यात्मिक शक्ति—Will.

अहंकार—Ego.

अव्यक्त मन—Unconscious mind.

आ

आत्मप्रकाशन—Self-display.

आत्मनिर्देश—Auto-suggestion.

आत्महीनता—Feeling of self-abasement.

आत्मप्रतिष्ठा का स्थायी भाव—Sentiment of self-regard.

आत्मश्लाघासूचक भावनाग्रंथि—Inferiority Complex.

आदत—Habit.

आर्जित भय—Acquired fear

आविष्कारात्मक खेल—Inventive Play.

आश्चर्य—Wonder.

उ

उत्साह—Feeling of elation.

उत्सुकता—Curiosity.

उपार्जित गुणों का विवरण—Transmission of acquired traits.

क

करुणा—Tender feeling.

कल्पना—Imagination.

कामप्रवृत्ति—Sex instinct.

कामविलयन—Redirection of sex, sublimation

कामुकता—Lust.

कशोरावस्था—Adolescence.

क्रोध—Anger.

ख

खेल—Play.

खेल के लक्षण—Characteristics of play.

खेल के सिद्धांत—Theories of play.

ग

ग्लानि—Disgust.
ग्रंथियाँ—Glands.
ग्रंथिसूचक शब्द—Nodal idea.

च

चरित्र—Character.
चित्तविश्लेषण Psycho-analysis.

झ

झूठ—Lie
डायरी—Diary.

त

तुलनाकरन—Comparative method.

द

दमन—Repression
दुराचार—Abnormal behaviour.
दूसरों की चाह-Gregariousness.
देशभक्ति—Patriotism.

ध

ध्वंसात्मक खेल—Destructive play.

न

निर्णय—Decision.
निर्देश —Suggestion.
निर्देश का दुरुपयोग—Abuse of suggestion.
निर्देश का उद्गम—Sources of suggestion.
निरीक्षण—Observation.
नैसर्गिक और आर्जित क्रियाएँ—Inherited and acquired modes of behaviour.

प

पदार्थों से खेल —Play with objects.
पिछड़ना—Retardation.
प्रतिखेल—Playing against.
प्रतिनिर्देश-Contra-suggestion.
प्रयोग—Experiment.
प्रसन्नता—Joy.
प्रश्नावली Questionaire.
प्राण-रक्षा संबंधी—Life preservative.
प्रेम—Love.

ब

बर्फ़ का पहाड़—Iceberg.
बालचर संघ—Scouting.
बाल्यावस्था—Childhood.
बैर—Hate.

भ

भय—Fear.
भागना—Flight.
भावना—Thought, motive.
भावनाग्रंथि—Complex.
भोजन ढूँढना—Food-seeking.

म

मानलिप्सा—Desire for recognition.
मार्ग परिवर्तन—Redirection.
मूल प्रवृत्तियाँ—Instincts.
मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन—Modification of instincts
मेंडेलवाद—Mendelism.

र

रचनात्मक—Constructive.
रुचि—Interest.

ल

लड़ने की या द्वंद्व प्रवृत्ति—Pugnacity

व

विकर्षण—Repulsion.
विचरण की प्रवृत्ति—Impulse to wander.
विचारपूर्वक अनुकरण—Deliberate imitation.
विचारमय क्रियाएँ—Voluntary behaviour.
विचारात्मक खेल—Adjustive play.
विनीत भाव—Submission.
विरोध—Opposition.
वैयक्तिक खेल—Individual play.
वैयक्तिक निर्देश—Prestige-suggestion.
वंशानुक्रम और वातावरण—Heredity & environment.

स

समाज संबंधी—Social.
सुह खेल—Playing with.
सहज क्रियाएँ—Reflexes.
सामूहिक खेल—Group plays.
सामूहिक निर्देश-Mass-suggestion.

सुख दुःख विनियमन—Hedonic selection.

संग्रह—Hoarding.

संमोहन—Hypnosis, Hypnotism.

स

संतानोत्पत्तिसंबंधी — Reproductive.

संवेग—Emotion.

संवेगों का स्वरूप—Nature of emotions.

सांकेतिक चेष्टाएँ—Symptomatic acts, automata.

स्थायी भाव—Sentiment.

स्नायु—Nerves.

स्मृति—Memory.

स्पर्धा—Emulation.

स्फूर्तिमय अनुकरण — Spontaneous imitation.

श

शब्द संबोध—Word-association.

शरणागत होना—Appeal.

श्रद्धा—Reverence.

शरीर से खेल-Play with the body.

शिशुरक्षा की प्रवृत्ति—Parental instincts.

शैशवावस्था—Infancy.

ह

हँसना—laughter.